

निजानन्द योग



निजानन्द योग

लेखक

श्री राजन स्वामी

प्रकाशक

श्री प्राणनाथ ज्ञानपीठ

नकुड़ रोड, सरसावा, सहारनपुर, उ.प्र.

www.spjin.org

सर्वाधिकार सुरक्षित

© २०१२, श्री प्राणनाथ ज्ञानपीठ ट्रस्ट

पी.डी.एफ. संस्करण — २०१९

अनुभूमिका

युगों-युगों से मानव यह जानने का प्रयास करता रहा है कि उसका वास्तविक स्वरूप क्या है। जब उसकी आँखें बाह्य जगत की चकाचौंध में खो जाती हैं और बुद्धि भी उसी का अनुसरण करने लगती है, तो अन्तरात्मा से आवाज आती है कि रे मानव! तू सम्भल जा। तू अब तक अज्ञान की गहरी निद्रा में सोता रहा है। उठ! स्वयं को जान कि तू यथार्थ में कौन है ? तेरी आत्मा का अनादि प्रियतम कौन है, कहाँ है, तुझे यहाँ किसलिये भेजा गया है, इस संसार को छोड़ने के पश्चात् तुझे कहाँ जाना है, और शरीर के रहते-रहते अपने प्राणेश्वर से तेरा मिलन किस प्रकार होगा?

इन प्रश्नों के समाधान के लिये अन्ततोगत्वा उसे ध्यान की ओर मुड़ना पड़ता है। ध्यान वह पारसमणि है,

जिसके सम्पर्क में आने वाला पापी से पापी व्यक्ति भी निष्पाप होकर परब्रह्म के साक्षात्कार का अधिकारी बनता है और शाश्वत आनन्द को प्राप्त होता है।

इस लघु ग्रन्थ में संसार की अन्य ध्यान पद्धतियों की निष्पक्ष विवेचना करते हुए श्री प्राणनाथ जी द्वारा प्रदत्त निजानन्द योग पर संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है। इसके द्वारा आत्मा इस क्षर जगत एवं बेहद मण्डल से परे परमधाम और अक्षरातीत परब्रह्म का साक्षात्कार करती है।

यह ग्रन्थ सच्चिदानन्द परब्रह्म की अपार कृपा, सद्गुरु महाराज परमहंस श्री रामरतन दास जी एवं सरकार श्री जगदीश चन्द्र जी की छत्रछाया में लिखा गया है। मेरे सम्माननीय मित्र श्री सद्गुरु प्रसाद आर्य जी (भूतपूर्व आई.ए.एस.) का इसके प्रकाशन एवं संशोधन में विशेष

सहयोग है, अन्यथा यह ग्रन्थ इतनी शीघ्रतापूर्वक प्रकाशित नहीं हो पाता। मुद्रण कार्य में सच्चिदानन्द , राजकुमार, एवं अशोक जैसे विद्यार्थियों ने अति कठोर परिश्रम किया है। बहन नलिनी, किरण, एवं अमरलाल सेठी जी का प्रूफ रीडिंग में विशेष योगदान है। सच्चिदानन्द परब्रह्म से प्रार्थना है कि इन सभी सुन्दरसाथ पर अपनी अमृतमयी कृपा की वर्षा करते रहें। आपके सुझावों के लिए आभारी होंगे।

आपका

राजन स्वामी

श्री प्राणनाथ ज्ञानपीठ

सरसावा (उ. प्र.)

अनुक्रमणिका

1	ध्यान की आवश्यकता क्यों?	7
2	ध्यान की दार्शनिक विवेचना	49
3	विभूतियों की निरर्थकता	132
4	साधना निर्देशन	181
5	चितवनि की विधि	278
6	प्रश्न मञ्जूषा	309

प्रथम तरंग

ध्यान की आवश्यकता क्यों?

संसार की चकाचौंध में भटकने वाले मानव! क्या तू अपने को जानता है कि तू कौन है? कभी तू माँ की ममतामयी गोद में खेला करता था, तो कभी किशोरावस्था में निर्द्वन्द्व होकर खेल में डूबा रहता था। यौवन के उन्माद में तूने अपने शारीरिक सौन्दर्य और धन को सब कुछ समझ लिया था।

तुझे मदहोश करने वाला यौवन अब कहाँ चला गया है? तेरे काले-काले बालों में यह सफेदी क्यों दिख रही है? तेरे सुकोमल एवं खिलखिलाते चेहरे के ऊपर ये झुर्रियाँ कहाँ से आ गयी हैं? तू तो स्वयं को बहुत अधिक शक्तिमान समझता था, किन्तु अपने जर्जर हाथों में तूने

यह लाठी क्यों पकड़ रखी है?

क्या तू जानता है कि ऐसे कितने ही शरीरों को तू धारण कर चुका है। तेरा शरीर मनुष्य से लेकर पशु-पक्षी एवं कीट-पतंगों तक में कितनी बार जन्म ले चुका है और मृत्यु को प्राप्त हो चुका है। हे हत्भाग्य मानव! अब तो चेत जा। तू मात्र हड्डी एवं माँस का पुतला नहीं है। इससे पहले तो तेरा निज स्वरूप प्रेम एवं आनन्द के अनन्त और अनादि महासागर में क्रीड़ा करता रहा था, किन्तु तू उसे छोड़कर इस लुभावने तथा मिथ्या जगत के जाल में क्यों फँसा पड़ा है?

तूने अब तक अनगिनत बार अति स्वादिष्ट पदार्थों का रसास्वादन किया है, मधुर एवं कोमल स्पर्श के सुखों को ही सब कुछ समझता रहा है। रूप-माधुरी में स्वयं को डुबोकर तूने स्वयं को धन्य-धन्य माना है, किन्तु

क्या कभी तूने यह भी सोचा है कि शान्ति की निर्मल रसधारा तुम्हारे हृदय में अभी तक क्यों नहीं प्रवाहित हुई?

ध्यान वह अमृत रस है, जिसके एक बूँद का भी रसास्वादन कर लेने के पश्चात् यह अनुभव होने लगता है कि मात्र परब्रह्म ही शाश्वत् प्रेम, शान्ति, एवं आनन्द का सागर है, जबकि शरीर और यह जड़ जगत सभी स्वप्नवत् नाशवान हैं। इनके पीछे भागने में केवल दुःख ही दुःख है।

यद्यपि ध्यान का परिपक्व (गहनतम्) रूप ही समाधि है, जिसमें आत्मा एवं जीव अपने मूल शुद्ध रूप में स्थित होकर अखण्ड स्वरूप (परमधाम, बेहद मण्डल) का साक्षात्कार करते हैं। वस्तुतः आत्म-चक्षुओं से देखना ही चितवनि या समाधि है। बोलचाल की भाषा

में भी नेत्रों की दृष्टि को चितवन या चितवनि कहते हैं।

रामचरित मानस की ये चौपाइयाँ चितवनि के इन्हीं भावों को व्यक्त करती हैं—

चितवति चकित चहूँ दिसि सीता।

कहँ गए नृप किसोर मनु चिंता॥

चितवनि चारु मार मान मनु हरनी।

भावति हृदय जाति नहि बरनी॥

अर्थात् सीता जी चकित होकर चारों ओर देख रही हैं। उनका मन इस बात की चिन्ता कर रहा है कि राजकुमार कहाँ चले गये? श्री राम-लक्ष्मण के नेत्रों की मनोहर दृष्टि कामदेव के भी मन को हरने वाली है। वह हृदय को बहुत प्यारी लगती है।

कुछ लोगों का कथन है कि वे तो चलते-फिरते ही

ध्यान कर लेते हैं और हमेशा अखण्ड आनन्द में डूबे रहते हैं।

यदि गहन चिन्तन से देखा जाये, तो इस प्रकार का कथन करने वाले लोग बहुत बड़ी भ्रान्ति के शिकार होते हैं। उठते-बैठते, सोते-जागते, या चलते-फिरते अपने आराध्य के भावों में लीन तो हुआ जा सकता है, किन्तु ध्यान में नहीं डूबा जा सकता। यह एक प्रकार की भावलीनता है, जिसमें चित्त आराध्य के भावों में खो जाता है और कुछ शान्ति पाकर स्वयं को कृत-कृत्य मान लेता है। इस प्रकार आत्म-मुग्धता का शिकार होने वाले लोग चितवन के आनन्द से कोसों दूर रहते हैं।

प्रत्येक व्यक्ति के चित्त में काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि के संस्कार जन्म-जन्मान्तरों से जुड़े रहते हैं। परब्रह्म के ध्यान रूपी अग्नि से ही ये जलकर राख

होते हैं, अन्यथा नहीं। इन संस्कारों को दग्ध किये बिना न तो किसी का हृदय पवित्र हो सकता है और न ही परब्रह्म का साक्षात्कार हो सकता है। अध्यात्म के इस स्तर को प्राप्त किये बिना जीव-मुक्ति की भावना मात्र दिवा-स्वप्न है।

अध्यात्मपरक ग्रन्थों का स्वाध्याय हमें अन्ततोगत्वा ध्यान में डूबने का ही निर्देश देता है, किन्तु रजोगुण की अधिकता के कारण प्रायः स्वाध्यायशील लोग भी शब्द-जाल में उलझकर रह जाते हैं और केवल वाग्विलास (प्रवचन के आनन्द) को ही सर्वोपरि मानकर प्रियतम के वास्तविक आनन्द से हाथ धो बैठते हैं।

मनीषियों तथा धर्मग्रन्थों की दृष्टि में ध्यान का महत्व

आलस्य तथा प्रमाद के वशीभूत कुछ लोग ध्यान को निरर्थक समझते हैं। उनकी दृष्टि में कर्मकाण्ड की कुछ क्रियाओं को पूरा कर लेना या कुछ ग्रन्थों का पठन कर लेना ही सब कुछ होता है। इस सम्बन्ध में भर्तृहरि के वैराग्य शतक के ये कथन देखने योग्य हैं—

गंगातीरे हिमगिरिशिलाबद्ध पद्मासनस्य,

ब्रह्मध्यानाभ्यसन-विधिना योगनिद्रां गतस्य।

किं तैर्भाव्यं मम् सुदिवसैर्यत्र ते निर्विशङ्काः,

कन्दूयन्ते जरठहरिणाः शृङ्गमङ्गे मदीये॥३७॥

वे मनोहर दिन कब आयेंगे, जब मैं गंगा के किनारे हिमालय पर्वत की किसी शिला पर पद्मासन लगाकर परब्रह्म के ध्यान में डूबा रहूँगा और निर्विकल्प समाधि में

स्थित हो जाने पर मेरे शरीर को बूढ़े हिरण निर्भय होकर
अपने सींगों से खुजलाया करेंगे।

विस्तीर्णे सर्वस्वे तरुणकरुणापूर्ण हृदयाः,

स्मरन्तः संसारे विगुण परिणामावधि गतीः।

वयं पुण्यारण्ये परिणत शरच्चन्द्रकिरण,

स्त्रियामां नेष्यामो हरचरणचिन्तैक शरणाः॥४४॥

अपना सर्वस्व भिक्षुकों को दान करके और अपने
हृदय में करुणा भरकर, संसार को नश्वर एवं असंख्य
दोषों का भण्डार मानकर, शरद ऋतु के चन्द्रमा की
चाँदनी से आच्छादित रमणीय वन में परब्रह्म का ध्यान
करते हुए हम कब अपनी रात्रियाँ व्यतीत करेंगे?

भोगामेघवितानमध्य विलसत्सौदामिनो चंचला,

आयुर्वायुविघटिताभ्र पटलीलीनाम्बुवद्भङ्गुरम्।

लोला यौवनलालसास्तनु भृतामित्याकलय्य द्रुतं,
योगे धैर्यसमाधिसिसुलभे बुद्धि विदध्वं बुधाः॥४९॥

हे बुद्धिमानों! सभी प्राणियों द्वारा भोगे जाने वाले भोग मेघ मण्डल में चमकने वाली विद्युत के समान शीघ्र ही नष्ट होने वाले हैं। हवा के झोंकों से हिलने वाले कमल के पत्ते पर स्थित बूँदों के समान आयु भी क्षणभंगुर है। यौवन की उमंग में उत्पन्न होने वाली वासनार्यें भी स्थिर सुख वाली नहीं हैं। इसलिये आप सभी इन सब बातों का विचार करके धैर्यपूर्वक परब्रह्म के ध्यान द्वारा समाधि की अवस्था को प्राप्त कीजिए।

इसी प्रकार ऋषियों ने उपनिषदों में अनेक स्थानों पर ध्यान की महत्ता पर प्रकाश डाला है और स्पष्ट कहा है कि बिना ध्यान किये न तो ब्रह्म का साक्षात्कार हो

सकता है और न ही शाश्वत् आनन्द की प्राप्ति हो सकती है।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा,

नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।

ज्ञान प्रसादेन विशुद्ध सत्त्व-स्ततस्तु,

तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥

मुण्डक उपनिषद ३/८

उस ब्रह्म को न तो पञ्चभौतिक आँखों से देखा जा सकता है और न अन्य इन्द्रियों तथा वाणी से होने वाले तप आदिकर्मों से प्राप्त किया जा सकता है। विशुद्ध ज्ञान के निर्देशन में शुद्ध हृदय वाला व्यक्ति एकमात्र ध्यान के अभ्यास से ही उस अनन्त ब्रह्म का साक्षात्कार करता है।

ब्रह्म का साक्षात्कार मात्र परमगुहा में ही होता है ,

"पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्" (मुण्डक उपनिषद् ३/७) के कथनों से स्पष्ट है। उस परमगुहा में बिना ध्यान-समाधि के प्रवेश सम्भव ही नहीं है। इस प्रकार यह निर्विवाद सिद्ध है कि बिना ध्यान-साधना के ब्रह्म का साक्षात्कार मात्र कोरी कल्पना है। मैत्रायणी उपनिषद् ४/४/९ में ध्यान-समाधि की महिमा इस प्रकार दर्शायी गयी है—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो,

निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्।

न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा,

स्वयन्तदन्तः करणेन गृह्यते॥

ध्यान-समाधि द्वारा जिसके अविद्या आदि मल नष्ट हो जाते हैं, उसे अपने हृदय में परब्रह्म का इतना अधिक

आनन्द प्राप्त होता है कि उसका वर्णन वाणी (शब्दों में) से नहीं हो सकता।

जैन ग्रन्थों में ध्यान की बहुत महिमा प्रदर्शित की गयी है।

होंवि सुहासब संवर विणिज्जराऽमर सुहाइ विउलाइं।

झाणवरस्स फलाइं सुहाणुबंधीणि धम्मस्स॥

ये त विसेसेण सुभासवसादओऽणुन्तरामर सुहं च।

दोण्हं सुक्काण फलं परि निव्वाणं परिल्लाणं॥

ध्यान शतक— धबला, पु. १३ गा. ५६/९३, ९४

अर्थात् धर्म—ध्यान से पुण्य कर्मों का आगमन, पाप कर्मों का निरोध, संचित कर्मों का क्षय, तथा अखण्ड सुख की प्राप्ति होती है। वस्तुतः ध्यान ही मोक्ष (परिनिर्वाण) तक ले जाने वाला है।

यह सर्वमान्य तथ्य है कि ध्याता (ध्यान करने वाले) में ध्येय (जिसका ध्यान किया जाये) के गुण आने लगते हैं। ज्ञान, प्रेम, और आनन्द के सागर उस निर्विकार अक्षरातीत का ध्यान करने पर ध्याता में इन गुणों का समावेश (प्रवेश) हो जाना स्वाभाविक है।

जो भोग का चिन्तन करता है, वह भोगी हो जाता है। इसी प्रकार योग का चिन्तन करने वाला योगी, काम का चिन्तन करने वाला कामी, एवं माया का चिन्तन करने वाला माया में आसक्त (मायावी) हो जाता है।

सृष्टि में आज दिन तक एक भी ऐसा महापुरुष (सन्त, परमहंस, दार्शनिक, तत्त्ववेत्ता आदि) नहीं हुआ है, जिसने यह कहा हो कि मैंने कभी ध्यान नहीं किया और इस स्तर तक पहुँच गया। ध्यान ही वह अमृत पथ है, जिस पर चलकर रत्नाकर डाकू सृष्टि के प्रथम कवि

महर्षि वाल्मीकि बने, पाणिनि विश्व के सर्वश्रेष्ठ वैयाकरण बने, तथा अत्यन्त मूर्ख कालिदास उपमा अलंकार के सर्वश्रेष्ठ कवि बने।

इसी ध्यान की प्रक्रिया ने घास-फूस की झोंपड़ियों में निवास करने वाले ऋषि-मुनियों को आत्मदर्शी बनाया। इसी का रस चखने के लिये राजकुमार सिद्धार्थ, महावीर स्वामी (वर्धमान), भर्तृहरि, भरत आदि अनेक चक्रवर्ती सम्राटों ने अपने भव्य महलों का परित्याग कर दिया तथा प्रसन्नतापूर्वक करतल भिक्षा एवं तरुतल वास के नैसर्गिक जीवन को स्वीकार किया।

ध्यान ने ही श्री शुकदेव, कबीर जी, नानक जी, शिव जी, तथा सनकादिक को संसार से न्यारा कर दिया। रामकृष्ण परमहंस की अलौकिक अनुभूतियों का मुख्य कारण ध्यान ही था। ध्यान ने ही अन्वेषण की राह

पर दयानन्द (शुद्ध चैतन्य, मूल शंकर) को महर्षि दयानन्द के गरिमामय पद पर प्रतिष्ठित कर दिया।

परमधाम के ध्यान की प्रक्रिया ने परमहंस गोपालमणि जी को ३०२ वर्षों की उम्र देकर सम्पूर्ण परमधाम का अनुभव कराया तथा परमहंस परम्परा का बीज बोया। श्री युगलदास जी, महाराज श्री रामरतन दास जी, बाबा दयाराम जी आदि परमहंसों की पवित्र जीवन गाथा में उनके तप-त्याग एवं ध्यान की ही विशिष्टता है।

ध्यान के सम्बन्ध में तारतम वाणी क्या कहती है

श्रीमुखवाणी अक्षरातीत के हृदय का बहता हुआ अमृत रस है, जिसमें सर्वत्र ही (रास ग्रन्थ से कयामतनामा तक) ध्यान (चितवनि) की महत्ता प्रदर्शित

की गयी है। परमधाम की आत्माओं को जाग्रत करने के लिये धाम धनी का निर्देश है—

ए मूल मिलावा अपना, नजर दीजे इत।

पलक न पीछे फेरिये, ज्यों इस्क अंग उपजत॥

सागर ७/४०

इस चौपाई के दूसरे चरण में "नजर दीजे" का तात्पर्य ही है, संसार से अपनी दृष्टि हटाकर मूल मिलावा में विराजमान युगल स्वरूप की ओर देखना। यदि हमें धनी के प्रेम को पाने एवं आत्मा की जाग्रति की आकांक्षा है, तो अपनी आत्मिक दृष्टि को मूल मिलावा में बनाये रखना होगा। अगली चौपाई का कथन भी इसी सन्दर्भ में है—

सुरता एकै राखिये, मूल मिलावे माहिं।

स्याम स्यामा जी साथ जी, तले भोम बैठे है जांहि॥

सागर ७/३

मायावी कष्टों से विचलित हुए बिना धाम धनी की चितवनि में लगे रहना ही हमारी प्राथमिकता होनी चाहिए।

कोई देत कसाला तुमको, तुम भला चाहियो तिन।

सरत धाम की न छोड़ियो, सुरत पीछे फिराओ जिन॥

किरंतन ८६/१६

श्री जी ने परमधाम की चितवनि न करने वालों को कायर कहा है। जो प्रियतम परब्रह्म को पाने के लिये अपनी "मैं" का परित्याग करके स्वयं को न्योछावर नहीं कर सकता, वह आध्यात्मिक दृष्टि से कायर ही कहा

जायेगा।

आग परो तिन कायरों, जो धाम की राह न लेत।

सरफा करे जो सिर का, और सकुचे जीव देत॥

किरंतन ८७/१

भले ही हमारे पास अनुपम रूप क्यों न हो, तीनों लोकों के सर्वोच्च पद पर हम विराजमान हों, धन एवं प्रतिष्ठा भी हमारा अनुगमन किया करें, किन्तु यदि हम अपने प्राणेश्वर अक्षरातीत का ध्यान नहीं करते, तो हमारा जीवन नरक के ही तुल्य कहा जायेगा।

निस दिन ग्रहिए प्रेम सों, जुगल सरूप के चरन।

निरमल होना याही सों, और धाम वरनन॥

इन विध नरक जो छोड़िए, और उपाय कोई नाहें।

भजन बिना सब नरक है, पचि पचि मरिए माहें।।

किरंतन १०६/२,३

परमधाम की चितवनि से दूर रहने के कारण ही जीव के तन, मन, चित्त, एवं बुद्धि को फटकार लगायी गयी है।

धिक धिक पड़ो मेरी बुध को, मेरी सुध को,

मेरे मन को, मेरे तन को, याद न किया धनी धाम।

प्रायः सुन्दरसाथ में एक बहुत बड़ी भ्रान्ति फैली हुई है कि तारतम लेते ही हमारी आत्मा जाग्रत हो जाती है। तारतम (दीक्षा) लेना तो आत्मा के जाग्रति की मात्र प्रथम सीढ़ी है। ज्ञान, विरह, समर्पण, ध्यान आदि अनेक सीढ़ियों को पार करने के पश्चात् ही आत्म-जाग्रति के

चरम लक्ष्य को प्राप्त किया जाता है। यह लक्ष्य ध्यान (चितवनि) के बिना कदापि पूरा नहीं हो सकता।

जब हक चरन दिल दृढ़ धरे, तब रूह खड़ी हुई जान।

हक अंग सब हिरदे आए, तब रूह जागे अंग परवान॥

श्रृंगार ४/३७

जब आत्मा के धाम-हृदय में धाम धनी के चरण कमलों की शोभा झलकार करने लगती है, तो आत्मा प्रेम की गहन स्थिति को प्राप्त हो जाती है। इस अवस्था में जब श्री राज जी के अंग-अंग की शोभा आत्मा के धाम-हृदय में बस जाती है, तो उसे भी अपना सम्पूर्ण श्रृंगार झलकने लगता है। इसे ही आत्म-जाग्रति (आत्मा का जाग्रत होना) कहते हैं।

वस्तर भूखन हक के, आए हिरदे ज्यों कर।

त्यों सोभा सहित आत्मा, उठ खड़ी हुई बराबर।।

श्रृंगार ४/६८

वस्त्र-आभूषणों सहित श्री राजश्यामा जी की शोभा जब आत्मा के धाम-हृदय में आ जाती है, तो आत्मा भी अपनी सम्पूर्ण शोभा के साथ स्वयं को देखने लगती है अर्थात् जाग्रत हो जाती है। किन्तु इस लक्ष्य को पाने के लिये जीव को विरह में डूबकर स्वयं को धनी के प्रति समर्पित करना पड़ता है। यह अवस्था ध्यान के बिना कदापि प्राप्त नहीं हो सकती। मात्र जोर-जोर से नाचने-कूदने, भजन गाने, हाथ उठाकर जयकारे लगाने, एवं माला-तिलक से स्वयं को श्रृंगारित करने से यह लक्ष्य प्राप्त होने वाला नहीं है।

हक के भूखन की क्यों कहूं, रंग नंग जोत सलूक।

आतम उठ खड़ी तब होवहीं, पेहेले जीव होए भूक भूक॥

श्रृंगार ४/६५

परमधाम के ध्यान से जो सुख प्राप्त होता है, उसके सामने करोड़ों वैकुण्ठों का सुख नगण्य है।

कई कोट राज बैकुण्ठ के, न आवे इत के खिन समान।

किरंतन ७८/२

जैसे-जैसे हमारे दिल में परमधाम की शोभा बसती जायेगी, वैसे-वैसे संसार (मायावी जगत) हमसे दूर होता जायेगा। इस अवस्था में हमारी आत्मा को यह अनुभव होगा कि उसका मूल तन (परात्म) तो धाम धनी के चरणों में ही विद्यमान है।

नजर खेल से उतरती देखिए, त्यों अर्स नजीक फजर।

यों करते लैल मिटी रूहों, दिन हुआ अर्स फजर॥

श्रृंगार २४/१४

ध्यान द्वारा जैसे-जैसे हमारी दृष्टि इस झूठे संसार से हटती जायेगी, वैसे-वैसे हमारे दिल में परमधाम की शोभा बसती जायेगी। ऐसी स्थिति में आत्मा के लिये नींद (फरामोशी, अज्ञानता) जैसी कोई बात रह ही नहीं जायेगी, क्योंकि परमधाम के ज्ञान तथा प्रेम के हृदय में प्रकट हो जाने पर ऐसा अनुभव होता है कि हमारे हृदय में अज्ञान की रात्रि समाप्त हो गयी है एवं प्रातःकाल का मनोरम उजाला फैल गया है।

श्री पद्मावती पुरी धाम में श्री महामति जी द्वारा होने वाली जागनी लीला में प्रतिदिन अनिवार्य रूप से प्रातः-

सायं चितवनि करायी जाती थी। कालान्तर में यह प्रक्रिया बन्द हो गयी तथा उसका स्थान कर्मकाण्डों ने ले लिया। इस सम्बन्ध में बीतक साहिब में कहा गया है—

अग्यारहीं जोलों रही, दिल बड़ो चाह धरे।

फेर ठण्डे पड़ते गए, लाल कहे अंग ठरे॥

अर्थात् लगभग वि.सं. १७५१ तक चितवनि का बहुत जोर चला। उसके पश्चात् सुन्दरसाथ चितवनि से दूर हो गये (उनके दिल में गर्माहट न रही, रुचि न रही)।

स्वयं श्री महामति जी ने वि.सं. १७४८-१७५१ तक गुम्मट जी के ऊपरी गुमटी में बैठकर चितवनि की तथा सब सुन्दरसाथ को करने की प्रेरणा दी। "धाम चलने" अर्थात् सुरता से परमधाम को देखने से सम्बन्धित कीर्तन इसी समय उतरे, जिनकी कुछ

मनमोहक झांकी इस प्रकार है—

चलो चलो रे साथ, आपन जईए धाम।

मूल वतन धनिए बताया, जित ब्रह्मसृष्ट स्यामा जी स्याम॥

एही सुरत अब लीजो साथ जी, भुलाए देओ सब पिण्ड ब्रह्माण्ड।

जागे पीछे दुख काहे को देखे, लीजे अपना सुख अखंड॥

अब छल में कैसे कर रहिए, छोड़ देओ सब झूठ हराम।

सुरत धनी सों बांध के चलिए, ले विरहा रस प्रेम काम॥

किरंतन ८९/१,५,९

श्री महामति जी सुन्दरसाथ को अपने प्रियतम अक्षरातीत पर अपना सर्वस्व न्योछावर करके चितवनि द्वारा उनका प्रत्यक्ष दर्शन करने के लिये प्रेरित करते हैं—

साथ जी सोभा देखिए, करे कुरबानी आत्म।

वार डारों नख सिख लों, ऊपर धाम धनी खसम॥

किरंतन ९०/१

जो भूले अब को अवसर, सो फेर न आवे ठौर।

नेहेचे सांचे न भूलहीं, इत भूलेंगे कोई और॥

किरंतन ९०/१५

प्रेममयी चितवनि द्वारा धनी को रिझाने का यह जो सुनहरा अवसर प्राप्त हुआ है, इसका लाभ न लेने वाला अन्ततोगत्वा पश्चाताप ही करेगा। यह अवसर पुनः प्राप्त होने वाला नहीं है। निश्चित रूप से इस जागनी लीला में ब्रह्मसृष्टियाँ अवश्य ही चितवनि करेंगी। युगल स्वरूप की शोभा को अपने दिल में न बसा पाने वाले जीव ही होंगे।

अब हम धाम चलत हैं, तुम हूजो सबे हुसियार।

एक खिन की बिलम न कीजिए, जाए घरों करें करार॥

किरंतन ९२/१

श्री महामति जी कहते हैं कि हे साथ जी ! अब मैं परमधाम की चितवनि में लग रहा हूँ। आप सभी सावचेत हो जाइये। इस समय तो चितवनि करने में एक क्षण की भी देर करना उचित नहीं है। आप सभी मेरे साथ ध्यान में लग जाइए, जिससे आप परमधाम की अनुभूति करके अनुपम आनन्द प्राप्त कर सकें।

पीछला साथ आए मिलसी, पर अगले करें उतावल।

केताक साथ विचार नीका, सो जानें चलें सब मिल॥

किरंतन ९२/११

तारतम वाणी से अक्षरातीत के स्वरूप की पहचान

करने वाले सुन्दरसाथ तो भविष्य में परमधाम की चितवनि में लग ही जायेंगे, किन्तु जिनको श्री राज जी की पहचान हो चुकी है, वे इस बात के लिये उतावले हो रहे हैं कि हम कब युगल स्वरूप तथा परमधाम की चितवनि में डूब जायें। कुछ सुन्दरसाथ के विचार बहुत श्रेष्ठ हैं। वे सोचते हैं कि हम सब मिलकर परमधाम के ध्यान में लग जायें।

ध्यान ही वह परम पुनीत मार्ग है, जिस पर चलकर अपने प्राणवल्लभ को पाया जाता है। शरीर और इन्द्रियों से की जाने वाली भक्ति तो मात्र कर्मकाण्ड है। कर्मकाण्डों की राह पर चलकर प्रियतम परब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में श्रीमुखवाणी का कथन है—

इस्क बंदगी अल्लाह की, सो होत है हजूर।

फरज बंदगी जाहेरी, सो लिखी हक से दूर॥

खुलासा १०/५८

ए जो फरज मजाजी बंदगी, बीच नासूत हक से दूर।

होए मासूक बंदगी अर्स में, कही बका हक हजूर॥

सिनगार २९/१८

कर्मकाण्ड (शरियत) का मार्ग उपासना, ज्ञान, तथा विज्ञान (तरीकत, हकीकत, एवं मारिफत) के विपरीत बहिर्मुखी होता है। जड़ मूर्तियों के मन्दिरों में चढ़ने वाले चढ़ावे की अधिकता से पण्डे, पुजारी, एवं मठाधीश संसारिकता की आँधी में बह जाते हैं। वे ज्ञान एवं प्रेम लक्षणा भक्ति से कोसों दूर हो जाते हैं।

विपश्यना योग द्वारा भगवान बुद्ध ने संसार को

निर्वाण (मोक्ष) का सरल मार्ग दिखाया था, किन्तु कालान्तर में ध्यान-साधना की प्रक्रिया समाप्त हो गयी और उसका स्थान ले लिया जड़ मूर्तियों की पूजा ने। जगह-जगह बोधिसत्वों, मार (कलियुग), तारा, विजया आदि काल्पनिक देवी-देवताओं की पूजा होने लगी। महायान की ब्रजयान शाखा में वाममार्ग का प्रवेश हो गया। परिणामतः भिक्षु विलासी एवं दुराचारी हो गये। बौद्ध मत के पतन का मूल कारण यही है।

यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि भगवान बुद्ध ने आजीवन "अहिंसा परमोधर्मः" का प्रचार किया, किन्तु आज उनके अधिकांश अनुयायी माँस भक्षण करते हैं। यहाँ तक कि बड़े-बड़े मठों में रहने वाले भिक्षु भी माँस-मछली के सेवन से अपने को रोक नहीं पाते। इसका मूल कारण ध्यान की प्रक्रिया को छोड़कर जड़-मूर्तियों की शोर-

शराबे के साथ पूजा-पाठ करना है, जिसे भगवान बुद्ध ने मना किया था।

कठोर तपश्चर्या तथा "वीतराग योग" का निर्देश देने वाले तीर्थंकरों का अनुयायी जैन समाज भी जड़-मूर्ति पूजा के कीचड़ में इतना अधिक फँस चुका है कि वह अपने मूल उद्देश्यों से भटक गया है। आज जगह-जगह करोड़ों के भव्य जैन मन्दिर तो दिखायी देते हैं, किन्तु इन स्थानों में उच्च ज्ञान एवं ध्यान की सरिता प्रवाहित होती हुई नहीं दिखायी देती।

ध्यान-साधना का परम पुनीत एवं सरल मार्ग छोड़कर आज का पौराणिक हिन्दू समाज अपने अश्रु बिन्दुओं से अपनी विनाश लीला की करुण गाथा लिख रहा है। कट्टरपन्थी मुस्लिम आक्रमणकारियों द्वारा इन मन्दिरों को बार-बार तोड़े जाने के बाद भी पौराणिकों ने

न तो कोई शिक्षा ली है और न अपनी भूलों में परिवर्तन लाने का प्रयास किया है।

यह कितना हास्यास्पद है कि जिन नर-नारायण ऋषियों ने बदरीक (बेर का वृक्ष के) क्षेत्र में घोर तप किया था, वहाँ उनकी स्मृति में ध्यान का शिक्षण केन्द्र न बनाकर शोर-शराबे वाला विशाल मन्दिर बना हुआ है। महाभारत १४/३२ में वर्णित है कि योगिराज श्री कृष्ण ने हिमालय पर पुत्र प्राप्ति के लिये १२ वर्षों तक घोर तप किया था। उनकी स्मृति में बनाये गये पुरी के जगन्नाथ मन्दिर में केवल बाह्य कर्मकाण्ड, कोलाहल, लूट-खसोट, एवं असभ्य व्यवहार का ही बोलबाला है। वहाँ के प्रायः ८० प्रतिशत पण्डे-पुजारी माँस-मछली तथा शराब के सेवन में लिप्त हैं।

यह सर्वविदित है कि भगवान शिव इस सृष्टि के

प्रारम्भ काल से ही हिमालय में साधनारत रहे हैं, किन्तु उनके कलियुगी भक्तों ने उनके नाम पर गांजा, भांग, एवं भोग-विलास की राह अपना ली। सोमनाथ के जिस भव्य मन्दिर को महमूद गजनवी ने तोड़ा था, उसमें इतना धन था कि उसे ४००० खच्चरों और ऊँटों पर लादकर अफगानिस्तान ले जाया गया था।

सोमनाथ का यह विश्व-प्रसिद्ध मन्दिर मध्य काल में वाममार्गियों का मुख्य केन्द्र बन गया था, जहाँ इष्ट देवता को प्रसन्न करने के लिये हजारों देवदासियाँ नृत्य किया करती थीं। इन्हीं में से सबसे अधिक सुन्दर अत्यन्त रूपवती चोला नामक देवदासी को प्राप्त करने के लिये सोमनाथ मन्दिर के मुख्य पुजारी के लड़के शिवदर्शी ने महमूद गजनवी को मन्दिर के गुप्त मार्ग का पता दिया था, जिसके माध्यम से रात्रि में प्रवेश करके महमूद गजनवी ने

मन्दिर को तोड़ डाला।

सोमनाथ के मन्दिर में ४० मन भारी सोने की जंजीर में एक भारी दांता लटक रहा था। उसमें ५ गज ऊँची शिवमूर्ति (शिवलिंग) अधर में लटक रही थी, जिसमें बहुमूल्य रत्न जड़े थे। उस मूर्ति को महमूद गजनवी ने गदा से तोड़ दिया।

महमूद गजनवी ने नगरकोट के मन्दिर को विध्वंस करके ७०० मन सोने-चाँदी के बर्तन, ७४० मन सोना, २००० मन चाँदी, और २० मन हीरे, मोती, और जवाहरात लूटे। थानेश्वर के आक्रमण में २ लाख हिन्दुओं को बन्दी बनाकर महमूद गजनवी ले गया। मदुरा की लूट में उसे ६ ठोस सोने की मूर्तियाँ मिलीं, जिनके ऊपर ११ बहुमूल्य रत्न जड़े थे।

एक विश्वासघाती पुरोहित द्वारा दक्षिणा के लालच में भेंट दिये जाने पर मुहम्मद बिन कासिम को राजा दाहिर के उस गुप्त खजाने का भी पता चल गया, जिसमें ४० देगें सोने की थीं। उनमें १७२०० मन सोना भरा था। इसके अतिरिक्त ६००० मूर्तियाँ ठोस सोने की थीं, जिनमें सबसे बड़ी मूर्ति का तोल ३० मन था। हीरा, पन्ना, मोती, लाल, और माणिक्य इतने थे कि उन्हें कई ऊँटों पर लादा गया।

इसके अतिरिक्त कुतुबदीन ऐबक ने कन्नौज में १००० मन्दिरों का विध्वंस किया तथा ४०० ऊँटों पर लूटा हुआ सोना और चाँदी लादकर अफगानिस्तान ले गया।

काश! सोमनाथ के मन्दिर के स्थान पर कोई विशाल गुरुकुल या विश्वविद्यालय होता, जहाँ सभी

देवदासियों, पण्डों, पुजारियों, तथा जन-सामान्य को वेद-शास्त्रों एवं ध्यान-योग की शिक्षा दी जाती, तो देश को इतने बुरे दिन नहीं देखने पड़ते। तक्षशिला विश्वविद्यालय के आचार्य चाणक्य ने अपने बुद्धि कौशल से विश्वविजेता सिकन्दर को भारत छोड़कर वापस लौटने के लिये विवश कर दिया था, किन्तु भारतवर्ष पर १७ बार आक्रमण करने वाले गज़नवी को रोकने वाला एक भी विद्वान उस समय देश में नहीं था। जब चारों ओर पत्थरों की जड़ एवं मूक मूर्तियों की ही पूजा का बोलबाला था, तो वेद-शास्त्रों का अध्ययन करके ध्यान-साधना में निमग्न रहने वाला दूरदर्शी विद्वान कहाँ से पैदा हो जाता।

गौहाटी के प्रसिद्ध कामाख्या मन्दिर को यदि वध्यस्थल कह दिया जाये, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं

होगी। जगत् माता की यह कैसी भक्ति, जिसमें हजारों जानवरों की बलि दी जाती है? क्या जगत् माता उन असहाय और मूक पशुओं की माता नहीं है? क्या माता की करुणा मात्र उन माँसाहारी और शराबी पण्डे – पुजारियों के लिये ही है?

भगवान शिव के तमोगुणी रूप भैरव के मन्दिरों में शराब का चढ़ाया जाना क्या सिद्ध करता है? क्या इसी को अध्यात्म कहते हैं? क्या इन मन्दिरों में जाने वालों ने कभी सोचा है कि ऐसा करना वेद-शास्त्रों में कहाँ लिखा है?

ऋषिकेश में गंगा किनारे बने हुए दोनों पुल (लक्ष्मण झूला तथा श्री राम झूला) भगवान श्री राम के तपोमय जीवन की यशोगाथा गा रहे हैं। इन दोनों पुलों के सूचना पट्टों पर लिखा हुआ है कि भगवान राम ने अपने अनुज

लक्ष्मण के साथ यहाँ तप किया था। वाल्मीकि रामायण के कथनों तथा इन प्रत्यक्ष ऐतिहासिक प्रमाणों को झुठलाकर वैष्णव भक्तों ने शालिग्राम की पूजा में टन – टन, पूं-पूं का शोर मचाना ही अपने जीवन का परम लक्ष्य मान रखा है।

आधुनिक भगवान (सांई बाबा) के मन्दिरों में चढ़ाया जाने वाला करोड़ों रुपयों का धन भारतीय जनमानस की नादानी को ही इंगित कर (दर्शा) रही है। देश के सभी मन्दिरों में चढ़ाया जाने वाला अरबों रुपयों का बहुत बड़ा भाग कर (टैक्स) के रूप में सरकार के पास चला जाता है। शेष धन पण्डों, पुजारियों, एवं मठाधीशों के लौकिक उपभोग में व्यय हो जाता है। यदि यही धन धार्मिक शिक्षा एवं योग के प्रचार में लग जाता, तो कोई भी धर्मान्तरण का रोना नहीं रोता और न सर्वत्र

आडम्बरों की बाहुलता ही दिखायी देती।

इसी प्रकार प्रतिवर्ष गणेश पूजा, लक्ष्मी पूजा, सरस्वती पूजा, तथा दुर्गा पूजा में प्रयुक्त होने वाली मिट्टी की मूर्तियों ने एक व्यवसाय का रूप ले लिया है। इस प्रक्रिया में अरबों रुपया हर वर्ष पानी में बह जाता है, किन्तु अपने भोले-भाले, नंगे-भूखे वनवासी भाइयों के उद्धार के लिये एक रुपया भी रूढ़िवादी समाज खर्च करने के लिये तैयार नहीं दिखता। क्या इन असहाय वनवासियों (आदिवासियों) के हृदय में साक्षात् नारायण का वास नहीं है? यदि आप इनके हृदय में नारायण का अस्तित्व नहीं मानते, तो गीता के इस कथन "ईश्वर सर्व भूतानां हृददेशेऽर्जुनतिष्ठति" का आप क्या अर्थ करेंगे?

सम्पूर्ण सृष्टि के आधार एवं कर्ता - धर्ता उस सर्वशक्तिमान परमात्मा को मन्दिरों के कारागार में बन्द

करके ताला लगा देना, क्या उसका अपमान नहीं है? सबको जीवन देने वाले उस परब्रह्म को ही मन्त्र पढ़कर प्राण प्रतिष्ठित करना, क्या उसका उपहास उड़ाना नहीं है? असंख्य सूर्यों से भी अधिक प्रकाशमान उस तेजोमयी परब्रह्म को दीपक दिखाना तथा उसे भोजन देना किस मानसिकता का द्योतक है। जिसकी आराधना मानव हृदय को पूर्णतया निर्मल कर देती है, उसी परब्रह्म को जल से स्नान कराकर शुद्ध करना क्या दर्शाता है? क्या ऐसा करने के लिये वेदादि ग्रन्थों में निर्देश है?

ज्ञान, भक्ति, विवेक, एवं वैराग्य की दृष्टि से सन्यास आश्रम सभी आश्रमों का मुकुट है, किन्तु खेद के साथ यह कहना पड़ता है कि वर्तमान समय में देश में विद्यमान ८० लाख महात्माओं में लगभग १० लाख ही महात्मा यथार्थ रूप से शिक्षित होंगे। उनमें भी उच्च स्तर की

ध्यान-साधना करने वाले १ लाख से अधिक नहीं होंगे। सबका मार्गदर्शन करने वाले सन्यास आश्रम की जब यह दुर्दशा है, तो अन्य आश्रमों की क्या अवस्था होगी? इस दयनीय स्थिति के लिये जड़-पूजा और साम्प्रदायिक कट्टरता ही उत्तरदायी है।

१००० वर्षों की पराधीनता ने हमें आत्मावलोकन से दूर करके आलस्य एवं प्रमाद की गहरी नींद में डुबो दिया। हम अभी भी अपनी भूलों को सुधारने के प्रति सजग नहीं हैं। इसी का परिणाम है कि जगह-जगह धर्म-संस्कृति के प्रति लोगों में अश्रद्धा पैदा होती जा रही है, जिसका निराकरण धार्मिक शिक्षा एवं ध्यान-साधना के प्रसार से ही सम्भव है। बिना ध्यान के आत्मोन्नति की कल्पना मात्र दिवास्वप्न है। ऐसी स्थिति में कठोपनिषद् के शब्दों में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि

"उतिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधयत्" अर्थात् उठो,
जागो, और परम तत्त्व को (ध्यान द्वारा) प्राप्त करो।

॥ इसके साथ ही प्रथम तरंग पूर्ण हुई ॥



द्वितीय तरंग

ध्यान की दार्शनिक विवेचना

ऋतम्भरा प्रज्ञा या समाधि से प्राप्त होने वाली आप्तावस्था में जिस सत्य का अनुभव होता है, उसे "दर्शन" कहते हैं। कोरी कल्पनाओं, अन्धविश्वासों, तथा रुढ़िवादी साम्प्रदायिक मान्यताओं का दर्शनशास्त्र में कोई स्थान नहीं होता। शाश्वत सत्य तो एक ही होता है, इसलिये ध्यान के सम्बन्ध में भी यही तथ्य उजागर होता है कि ध्यान की मान्यतायें सभी मत-पन्थों में एक समान होनी चाहियें।

दुर्भाग्यवश, अध्यात्म जगत् में ध्यान के सम्बन्ध में तरह-तरह की साम्प्रदायिक भ्रान्तियाँ हैं। प्रत्येक सम्प्रदाय अपनी ही पद्धति को सर्वोपरि मानता है और

दूसरी पद्धतियों को हेय दृष्टि से देखता है , जबकि वास्तविकता यह है कि ध्यान के सम्बन्ध में संसार के सभी ध्यानाभ्यासियों को एकमत होना चाहिए।

इस वैचारिक भिन्नता का मुख्य कारण है— अनुभूति का दामन छोड़कर मात्र शुष्क बुद्धि द्वारा ही ध्यान की साम्प्रदायिक विवेचना करने का प्रयास करना। ध्यान के परम सत्य को जानने के लिये अपने साम्प्रदायिक पूर्वाग्रहों का परित्याग करना नितान्त आवश्यक है।

सभी साधनाओं का उद्देश्य होता है— अपने आत्म-स्वरूप एवं परमात्म-स्वरूप में स्थित होना। इस अवस्था को प्राप्त कर लेने वाले इन्द्रियातीत, देहातीत, लोकातीत, एवं वीतराग हो जाते हैं। शाश्वत मुक्ति का अखण्ड सुख उन्हें अनायास ही प्राप्त होता है। इस अवस्था को प्राप्त होने वालों में वैचारिक मतभेद नहीं

होता, क्योंकि उनके हृदय के तार एक ही परम सत्य से जुड़े होते हैं।

संसार की ध्यान पद्धतियाँ

वर्तमान समय में संसार में निम्नलिखित ध्यान पद्धतियाँ विशेष रूप से प्रचलित हैं—

१. वेदानुयायियों का पातञ्जल योग/राजयोग
२. बौद्धों का विपश्यना योग
३. जैनियों का वीतराग योग
४. पौराणिक हिन्दुओं का साकार ध्यान
५. हठयोगियों का शून्य ध्यान
६. वेद एवं सन्तों का सुरति शब्द (विहङ्गम) योग
७. सूफी फकीरों की ध्यान पद्धति

इनके अतिरिक्त श्री प्राणनाथ जी प्रणीत निजानन्द योग भी है, जो अपनी विशिष्टताओं के कारण सर्वकल्याणकारी है। संक्षेप में इन सभी ध्यान पद्धतियों की समीक्षा इस प्रकार है—

समानताएं

१	पातञ्जल योग	यम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह)
	विपश्यना योग	यम (शील, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, सत्य, मादक द्रव्य के सेवन से दूर रहना)
	वीतराग योग	यम (पंचमहाव्रत)
२	पातञ्जल योग	नियम (शौच, सन्तोष, तप,

		स्वाध्याय, परमात्मा के प्रति पूर्ण समर्पण)
	विपश्यना योग	११ शील (शिक्षाव्रत)– पूर्वोक्त पाँच के अलावा चुगली न करना, कटु वचन, व्यर्थ की बातचीत से दूर रहना, लोभ, क्रोध एवं मिथ्या दृष्टि से अलग रहना
	वीतराग योग	आठ संवर– श्रोत्र, चक्षु, नासिका, रसना, स्पर्श (इन्द्रिय), मन, वाणी, कर्म का संवर (संयम)
३	पातञ्जल योग	आसन
	विपश्यना योग	ध्यानमुद्रा (स्थिर आसन), मौन

	वीतराग योग	ध्यानमुद्रा (स्थिर आसन)
४	पातञ्जल योग	प्राणायाम
	विपश्यना योग	आनापानसति
	वीतराग योग	आरम्भ त्याग (प्रति संलीनता)
५	पातञ्जल योग	पाप (क्लेश)
	विपश्यना योग	अकुशल कर्म
	वीतराग योग	पाप
६	पातञ्जल योग	भावना
	विपश्यना योग	कुशल कर्म
	वीतराग योग	पुण्य
७	पातञ्जल योग	विवेक ख्याति

	विपश्यना योग	सम्यग्दर्शन
	वीतराग योग	सम्यग्दर्शन
८	पातञ्जल योग	प्रत्याहार
	विपश्यना योग	कायानुपश्यना
	वीतराग योग	प्रत्याहार बाह्य तप – अनशन, ऊनो-दरी अर्थात् कम से कम आहार, भिक्षाचर्या, रस परित्याग, काय क्लेश, प्रति संलीनता, एवं छः आभ्यान्तर तप (प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य अर्थात् ग्रन्थियों को गलाना, स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग)

९	पातञ्जल योग	धारणा
	विपश्यना योग	प्रज्ञा (चित्तानुपश्यना)
	वीतराग योग	छः आभ्यान्तर तप
१०	पातञ्जल योग	ध्यान
	विपश्यना योग	प्रज्ञा (धर्मानुपश्यना)
	वीतराग योग	ध्यान
११	पातञ्जल योग	समाधि
	विपश्यना योग	भवांग ध्यान (देहातीत अवस्था)
	वीतराग योग	कायोत्सर्ग
१२	पातञ्जल योग	कैवल्य

	विपश्यना योग	कैवल्य
	वीतराग योग	कैवल्य (निर्वाण, मुक्ति)

विषमतायें

समस्त साधनाओं का एकमेव लक्ष्य होता है, अपने आत्म-स्वरूप एवं परमात्म-स्वरूप में स्थित होना। यद्यपि पातञ्जल, विपश्यना, तथा वीतराग साधना का दार्शनिक पक्ष मूलतः समान है। वीतरागता ही इनका प्राण है, फिर भी मानव मन की कमजोरियों के कारण कुछ भिन्नताओं का अनुभव होता है, जो संक्षेप में इस प्रकार हैं—

१	पातञ्जल योग	क्लेश, कर्म की वासना से रहित पुरुष विशेष ही परमात्मा है,
---	-------------	--

		<p>जिसकी अनुभूति समाधि में होती है। वह ब्रह्म ही अखण्ड मुक्ति देने वाला है।</p> <p>क्लेश कर्म विपाकाश यैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। (योग दर्शन १/२४)</p>
	विपश्यना योग	<p>सब कुछ शून्य ही शून्य है। न तो आत्मा है और न परमात्मा है। सम्यक् समाधि का फल कैवल्य है, जिसमें देहातीत अवस्था प्राप्त होती है और अनन्त शक्ति मिलती है।</p>
	वीतराग योग	<p>जीव का अस्तित्व तो है, किन्तु</p>

		<p>सृष्टि का कर्ता कोई अनादि परमात्मा नहीं है। वीतराग साधना द्वारा कैवल्य की प्राप्ति होने पर सभी ईश्वरत्व के गुण जीव के अन्दर ही आ जाते हैं।</p>
२	पातञ्जल योग	<p>समाधि की प्राप्ति के लिए परमात्मा के प्रति अटूट समर्पण का होना अनिवार्य है।</p> <p>समाधि सिद्धिः ईश्वर प्राणिधानात्। (योग दर्शन २/४५)</p>
	विपश्यना योग	<p>विपश्यना योग के प्रति श्रद्धा रखते हुए पुरुषार्थपूर्वक अभ्यास करने से जब चित्त पूर्णतया</p>

		निर्विकार हो जाता है, तो समाधि की प्राप्ति होती है।
	वीतराग योग	दृढ़ वैराग्य तथा निर्विकार चित्त समाधि के लक्ष्य तक ले जाते हैं।
३	पातञ्जल योग	धारणा के लिए ॐ ब्रह्मवाचक नाम का अर्थपूर्वक चिन्तन करके चित्त को स्थिर किया जाता है। तस्य वाचकः प्रणवः। तत् जपः तदर्थं भावतम्। (योग दर्शन १/२७)
	विपश्यना योग	विपश्यना पद्धति में नासिका से आने व जाने वाले श्वास पर चित्त को केन्द्रित किया जाता है, तथा

		सम्पूर्ण संवेदनाओं के प्रति तटस्थ रहते हुए समाधि में प्रवेश किया जाता है।
	वीतराग योग	धर्म ध्यान तथा शुक्ल ध्यान की प्रक्रिया से क्रमशः राग-द्वेष आदि विकारों का परित्याग किया जाता है, जिससे समाधि एवं वीतराग अवस्था की प्राप्ति होती है। विपश्यना की प्रक्रिया वीतराग साधना के बहुत ही निकटवर्ती है।

आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी समीक्षा

वर्तमान समय में प्रचलित बौद्ध दर्शन के अनुयायी

यही मानते हैं कि न तो कोई आत्मा है और न कोई परमात्मा, बल्कि एकमात्र शून्य ही शून्य है। दृश्यमान प्रत्येक वस्तु में सूक्ष्म तरंगों के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं।

यदि ऐसा माना जाये, तो इस प्रकार के प्रश्न उठने स्वभाविक हैं—

१. यदि आत्मा है ही नहीं, तो अखण्ड मुक्ति या शान्ति किसको प्राप्त होती है? शरीर, अन्तःकरण, तथा इन्द्रियाँ तो जड़ एवं नश्वर हैं। क्षण—क्षण परिवर्तित होने वाली जड़ तरंगे किस प्रकार अनन्त आनन्द का उपभोग कर सकती हैं?

२. जब यह संसार दुःखमय है, तो इसका अनुभव किसको होता है? यदि अन्तःकरण (मन, चित्त, बुद्धि,

अहंकार) को होता है, तो अन्तःकरण किससे बना है? जड़ शून्य से भिन्न जब कोई चेतन पदार्थ है ही नहीं और सभी पदार्थों में क्षणिकवाद का दोष है, तो सुख-दुख, जन्म-मरण का अनुभव कौन करता है?

३. शून्य जड़ है या चेतन? यदि जड़ मानते हैं, तो प्राणियों के जीवित रहने या मरने में कोई अन्तर है या नहीं?

४. श्वास-प्रश्वास की क्रिया- सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि सभी जीव (आत्मा) के लक्षण हैं। क्या जड़ शून्य से चेतन की उत्पत्ति हो सकती है और शरीर छूटने के पश्चात् उस चैतन्य का जड़ शून्य में रूपान्तरित होना सम्भव है?

५. समाधि की देहातीत अवस्था में जब अन्तःकरण

तथा इन्द्रियों से कोई सम्बन्ध ही नहीं होता, तो बुद्धत्व किसको प्राप्त होता है?

६. मन, वाणी, तथा आचरण के सत्य से परे वह परम सत्य (ऋत्) कौन है और कैसा है, जिसके नियमन में यह सम्पूर्ण सृष्टि चल रही है?

७. बिना बुद्धिबल के कर्मफल की व्यवस्था कौन करता है? क्या जड़ शून्य से ऐसा होना सम्भव है?

८. सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर आज दिन तक गौतम, कपिल, कणाद, शुकदेव आदि असंख्य मनीषी हो चुके हैं, जिन्होंने आत्मा एवं परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया है। क्या ऐसा करके उन्होंने कोई भूल की है?

९. समाधि अवस्था में ज्ञान देने वाला कौन है? यदि

यह कहा जाये कि निर्विकार अवस्था में स्वतः ही ज्ञान प्रकट हो जाता है तो यह उचित नहीं, क्योंकि शून्य रूप जड़ पदार्थ से मन या चित्त में स्वतः ज्ञान प्रकट नहीं हो सकता।

१०. भगवान बुद्ध ने कहा है कि "मैंने उस अभय, अमृत पद को प्राप्त कर लिया है।" यह अवस्था तो त्रिगुणात्मक शून्य से परे होने पर ही प्राप्त हो सकती है। ऐसी अवस्था में प्रश्न यह होता है कि शून्य से परे त्रिगुणातीत, शाश्वत, अमर पद कहाँ है, कैसा है, और किसका है? जब जड़ शून्य से परे कुछ है ही नहीं और प्रत्येक वस्तु क्षणिक है, तो अखण्ड पद की बात कहाँ से आ गयी?

आत्मा तथा परमात्मा के अस्तित्व को नकारने के लिये प्रायः बुद्ध जी के इन कथनों का उद्धरण दिया जाता है—

१. जहाँ आत्म-दृष्टि है, वहाँ सत्य नहीं है। आत्मा की मान्यता एक छल है। कोई भी ऐसा अपराध नहीं, जिसका जन्म आत्म-दृष्टि से न हुआ हो।

सत्य का बोध तभी सम्भव है, जब यह बात स्पष्ट हो जाये कि आत्मा एक छलावा मात्र है। धर्माचरण तभी सम्भव है, जब हमारा मन "आत्मा" सम्बन्धी सभी मिथ्या मान्यताओं से मुक्त हो जाये। सम्पूर्ण शान्ति वहीं स्थापित हो सकती है, जहाँ पूर्ण रूप से अहंकार का नाश हो गया हो।

(बुद्धत्व प्राप्ति के पश्चात्)

२. आप लोग आत्मार्थ के ही गुलाम हैं और प्रातः से लेकर रात्रि तक उसी की सेवा में लगे रहते हैं। आप लोग जो जन्म, बुढ़ापे, बीमारी, तथा मृत्यु से सदा भयभीत

रहते हैं, इस सुखद समाचार को सुनें कि कहीं भी कोई आत्मा है ही नहीं। आत्मार्थ की प्रवृत्ति का त्याग कर दें, तो आप चित्त की उस शान्त अवस्था को प्राप्त कर लेंगे जहाँ अविद्या के लिये कोई स्थान नहीं।

(राजगृह में उपदेश)

३. नाम, रूप में कहीं भी कोई आत्मा छिपा नहीं रहता। स्कन्धों के आपसी सहयोग से जिसकी उत्पत्ति होती है, उसे ही लोग "आदमी" कहते हैं।

भिक्षुओं! यह परम सत्य है कि किसी के भी अंगों से पृथक् कोई अंगी नहीं है। यह जो हमारा अपना आप है, जिसे हम नाम-रूप कहते हैं, यह चारों महाभूतों वाले पाँचों स्कन्धों के योग्य सम्मिश्रण का परिणाम है। आत्मा नाम का कोई भी पदार्थ कहीं भी विद्यमान नहीं है।

शरीर एक यन्त्र की तरह है। इसमें इसको चालू करने वाला कोई "आत्मा" या ऐसा कुछ भी नहीं है, लेकिन इसमें जो विचार हैं, वे ही हवा से चलने वाले किसी यन्त्र की तरह इसे चलायमान करते हैं।

भिक्षुओं! आत्मा जैसी किसी वस्तु के न होने से आत्मा का कोई भावी जन्म भी नहीं हो सकता। इसलिये आत्मा सम्बन्धी किसी भी विचार को अपने मन में स्थान न दो। केवल कर्मों का ही अस्तित्व है, अतः कर्मों के प्रति सावधान रहो।

(बुद्ध का उपदेश— सारिपुत्र आदि भिक्षुओं के प्रति)

४. चरित्र का पुनर्जन्म होता है, किन्तु किसी आत्मा का संसरण (एक योनि से दूसरे योनि में प्रवेश) नहीं होता। विचारों की पुनरुत्पत्ति होती है, किन्तु किसी भी आत्मा

का स्थानीकरण नहीं होता। यदि कोई आचार्य किसी एक श्लोक या गाथा का पाठ करता है, तो उसका शिष्य बिना किसी संसरण के उसी श्लोक या गाथा को दुहरा सकता है।

हे ब्राह्मण! तुम अभी भी आत्मा से चिपके हुए हो। तुम स्वर्ग में आत्म-भोग की कल्पनायें करते रहते हो। इसलिये तुम सत्य का यथार्थ दर्शन नहीं कर सकते। जिस आत्मा से तुम चिपके हुए हो, वह निरन्तर परिवर्तनशील है। वर्षों पहले तुम एक बच्चे थे। उसके पश्चात् तुम क्रमशः किशोर, तरुण, और अब वयस्क हो गये हो। क्या बच्चे और वयस्क में कोई एकरूपता है? अब जिस आत्मा के लिये तुम इतनी हाय-तोबा मचा रहे हो, वह कौन सा आत्मा है? बीते हुए कल का आत्मा, आज का आत्मा, अथवा आने वाले कल का आत्मा।

(कूटदन्त ब्राह्मण के प्रति बुद्ध जी का उपदेश)

उपरोक्त उद्धरणों के चिन्तन से यही निष्कर्ष निकलता है कि ये सभी कथन भगवान बुद्ध के वास्तविक वचनों को तोड़-मरोड़कर वैसे ही प्रस्तुत किये गये हैं, जैसे पौराणिकों ने ऋषियों के नाम से वेद-विरुद्ध बातें दर्शायी हैं। यह सर्वविदित है कि गौतम बुद्ध, महावीर स्वामी, या ईसा मसीह ने अपने हाथों से कोई भी ग्रन्थ स्वयं नहीं लिखा है, बल्कि उनके अनुयायियों ने उनके देह-त्याग के लम्बे समय के पश्चात् ही उनके विचारों का संग्रह किया है।

भगवान बुद्ध के जिन कथनों में आत्मा की अस्वीकार्यता दर्शायी गयी है, वहाँ आत्मा का तात्पर्य अहम् (मैं) से है। आत्मा का शुद्ध स्वरूप मन, चित्त, बुद्धि, और अहम् से सर्वथा परे है, और वह मात्र समाधि

अवस्था में ही अनुभूत होता है, किन्तु उसे शब्दों द्वारा यथार्थ रूप में व्यक्त कर पाना सम्भव नहीं होता।

आत्म-दृष्टि को त्यागने का भाव यह है कि जब तक हम स्वयं को अन्तःकरण, इन्द्रियों, शरीर, तथा इस नश्वर संसार से अलग नहीं समझेंगे, तब तक न स्वयं के वास्तविक स्वरूप को जान सकेंगे और न ही अखण्ड शान्ति प्राप्त कर सकेंगे। स्वयं (मैं) के अस्तित्व को मिटाना ही यहाँ आत्म-भाव को मिटाना है। आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में बुद्ध जी का कथन है—

अहं भिक्खवे! तथागत सम्मासम्बुद्धो उदूहथ भिक्खवे।

सोतं अमतं अधिगतम् अहंमनुसासामि अहं धम्मं देसेमि॥

मंज्झिम निकाय २६ सु०

अर्थात् भिक्षुओं! अब मैं बुद्ध हो गया हूँ और मैंने

अमृत की प्राप्ति कर ली है। अब मैं धर्म का उपदेश करता हूँ।

वैदिक साहित्य में अमृत शब्द का प्रयोग ब्रह्म के लिये ही हुआ है। जैसे—

तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेव अमृतमुच्यते।

कठ उपनिषद २/२/८

वह ब्रह्म ही अखण्ड प्रकाश है और अमृत है।

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः। यजुर्वेद ११/११

हे सभी अमृत पुत्रों! मेरी बात सुनो।

ते यदन्तरा तद् ब्रह्म तदमृतम्।

छान्दोग्योपनिषद के इस कथन में भी ब्रह्म को अमृत कहा गया है।

धम्मपद श्लोक १६० (अन्तवग्गो ४) में आत्मा तथा परमात्मा का अस्तित्व माना गया है—

अत्ताहि अत्तनो नाथो को हि नाथो परोसिया।

अतनां व सुदन्तेन नाथं लभति दुल्लभं॥

अर्थात् आत्मा ही आत्मा का नाथ है, उससे बड़ा और कौन हो सकता है। आत्मा की चित्तवृत्तियों का दमन (आत्म-दमन) कर लेने पर उस दुर्लभ नाथ परमात्मा की प्राप्ति होती है।

तैविज्जसुत्त दीघ निकाय ८२८४ में मैत्री, करुणा, मुदिता, तथा उपेक्षा को ब्रह्म प्राप्ति का साधन बताया गया है—

१. मेताय चेतोविमुत्तिया— अयंखोवासंद्रं ब्रह्मानं सहव्यताय मग्गो।

२. करुणाय चेतो विमुक्तिया- ब्रह्मनं सहत्यताय मग्नो।

३. मुदिताय- ब्रह्मनं सहव्यताय मग्नो।

४. उपेक्खाय चेतो विमुक्तिम्- ब्रह्मनं सहव्यताय मग्नो।

सुत्त निपात के मेत्त सुत्त (मैत्री सूक्त) में कहा गया है-

तिङ्गं चरं निसिन्नो वा, सयानो वा यावतस्स विगत भिद्ध।

एतंसतिं अधिदेयं, ब्रह्मेतं विहारं इधमाहु।।

खड़े रहते, चलते, बैठते, या सोते समय जब तक जाग्रत हैं, तब तक मैत्री आदि की करुणा भावना बनाये रखनी चाहिए। यही ब्रह्म विहार है।

भगवान् बुद्ध स्वयं कहते हैं-

ब्रह्म भूतो अति तुलो मार सेनप्पमद्वनो।

सब्बा मित्ते बसीकत्वा, मोदामि अकुतो भयो॥

अर्थात् अब मैं ब्रह्म पद (ब्रह्म रूप) को प्राप्त हो गया हूँ। मेरी तुलना अब किसी से नहीं हो सकती। मैंने मार (कामदेव) की सेना को मर्दित कर दिया है और अपने अन्तःशत्रुओं को वश में करके निर्भय होकर आनन्दित हो रहा हूँ।

१. मेताय चेतो विमुत्तिया- अयंखोवासंद्व ब्रह्मानं सहव्यताय मगो।

२. करुणाय चेतो विमुत्तिया- ब्रह्मनं सहव्यताय मगो।

भ्रमवश क्षण-क्षण नष्ट होने वाले प्रत्यय मात्र क्षणिक चित्त को ही वैनाशिकों (बौद्धों) ने आत्मा माना है। वस्तुतः आत्मा तो द्रष्टा है, जो समाधि की शून्यावस्था में

भी अपने स्वरूप में स्थित रहता है। विज्ञान रूप यह सारा संसार चित्त में ही चल रहा है। इसके परे आत्मा का स्वरूप है, जिसको न जानने के कारण बौद्ध जगत भ्रान्ति का शिकार हो रहा है। सम्भवतः भगवान बुद्ध के शिष्य उनके कथनों को यथार्थ रूप में प्रस्तुत नहीं कर सके।

द्रव्य से गुण कभी पृथक नहीं हो सकता। जब चित्त ही क्षणिक है, तो उसमें जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार कैसे सुरक्षित रह सकते हैं। चित्त को क्षणिक तथा संस्कारों के प्रवाह को अनादि कहना उचित नहीं है। पंचशत पंचासजातक नामक पालि ग्रन्थ में भगवान बुद्ध के ५५० जन्मों का वर्णन है। इनमें वे ८३ बार सन्यासी, ५८ बार महाराजा, २६ बार धर्मोपदेशक, १० बार मृग, १८ बार बन्दर, १० बार सिंह, ८ बार हंस, ८ बार

हाथी, १२ बार मुर्गा, १ बार कुत्ता, १ बार मेंढक, १ बार खरगोश, २४ बार पुरोहित, २४ बार अमात्य (मन्त्री), और २४ बार युवराज बने।

आत्मा (जीव) की चैतन्यता से ही अन्तःकरण (मन, चित, बुद्धि, अहंकार) एवं इन्द्रियों में चैतन्यता होती है। यदि चित्त ही क्षणिक और नश्वर है, तो इतने जन्मों के संस्कारों को राजकुमार सिद्धार्थ के साथ कैसे जोड़ा जा सकता है? इस सम्बन्ध में जलती हुई मशाल का दृष्टान्त देकर चित्त के क्षणिक विचारों के प्रवाह को अनादि सिद्ध करना युक्तिसंगत नहीं है।

सम्यक् समाधि के साधन की समीक्षा

सम्पूर्ण वैदिक साहित्य परब्रह्म के प्रति अटूट निष्ठा, समर्पण, एवं प्रेम से भरा हुआ है। यही समाधि का

आधार भी है। बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य तथा गार्गी के संवाद में तो स्पष्ट रूप से कहा गया है कि मृत्यु से पूर्व यदि ब्रह्म को नहीं जाना, तो यह जीवन व्यर्थ है। यजुर्वेद ३१/१८ में तो यह निर्देश ही है—

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

अर्थात् उस परब्रह्म को जाने बिना मृत्यु के बन्धन से छूटने का अन्य कोई भी मार्ग नहीं है।

समर्पण के बिना विरह-प्रेम नहीं आ सकता और बिना विरह-प्रेम के कोई भी व्यक्ति अपने अहम् का परित्याग नहीं कर सकता। स्वयं के अस्तित्व का भान ही तो संसार को हमारे सम्मुख उपस्थित किये रहता है। यही कारण है कि भगवान् बुद्ध ने बार-बार स्वयं (अहम्) के समापन का निर्देश किया है, जिसे भ्रमवश

उनके शिष्यों ने आत्मा का ही निषेध मान लिया।

गीता ८/२२ का कथन है—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्तु अनन्यया।

अर्थात् वह परब्रह्म अनन्य परा प्रेम लक्षणा भक्ति द्वारा ही प्राप्त हो सकता है।

इसमें कोई भी संशय नहीं है कि विपश्यना पद्धति मन एवं चित्त को राग-द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकारों से मुक्ति दिला देती है, किन्तु अध्यात्म का सर्वोपरि लक्ष्य यही तो नहीं है। विपश्यना द्वारा यदि कोई व्यक्ति अपने चित्त को निर्विकार कर भी लेता है, तो भी उसके अन्दर अहम् की बीजरूपा अस्मिता का भाव तो बना ही रहता है।

गौतम बुद्ध ने अध्यात्म के जिस स्तर को प्राप्त किया

है, वहाँ तक पहुँचना सबके लिये सम्भव नहीं है। बुद्ध के समकालीन उनके शिष्यों के समक्ष जब तक बुद्ध जी का अलौकिक व्यक्तित्व रहा, तब तक उनको आदर्श मानकर उनको भिक्षुओं ने कैवल्य पद की प्राप्ति की, किन्तु उनके देह-त्याग पश्चात् उनकी मूर्तियाँ बनाकर पूजा-पाठ की प्रक्रिया शुरू हो गयी। फलतः घण्टे-घड़ियाल की आवाज में विपश्यना जैसी योग-साधना लुप्त प्राय हो गयी। लगभग यही स्थिति तीर्थकरों की मूर्तियाँ बनाकर पूजा करने वाले जैनियों तथा अवतारों की भक्ति करने वाले पौराणिक हिन्दुओं की हुई। मन्दिरों में चढ़ने वाले अकूत चढ़ावों ने भोग-विलास की ऐसी आँधी बहायी कि लगभग सभी ने विपश्यना एवं पातञ्जल योग को भुला ही दिया। जड़ पूजा के दीमक ने भारतीय अध्यात्म रूपी वृक्ष को पूर्णतया जर्जरित कर दिया, जिसके परिणाम स्वरूप

आज चारों ओर आडम्बर ही आडम्बर दिखाई दे रहा है।

पौराणिक हिन्दुओं ने स्वलीला अद्वैत सच्चिदानन्द परब्रह्म के प्रति श्रद्धा, विश्वास, तथा समर्पण को छोड़कर विष्णु तथा शिव के अवतारों एवं अन्य काल्पनिक देवी-देवताओं के साथ-साथ नदियों, पहाड़ों, वृक्षों, नवग्रहों आदि की पूजा प्रारम्भ कर दी। उनका यह कार्य भी नास्तिकता जैसा ही है।

अनन्त तेज, सौन्दर्य, प्रेम, आनन्द, ज्ञान, और शान्ति के सागर अक्षरातीत परब्रह्म के समर्पण से विमुख होकर यदि कोई भगवान बुद्ध, तीर्थंकरों, या देवी-देवताओं की मूर्तियों के प्रति समर्पण भाव दर्शाकर ध्यान-साधना या भक्ति करता है, तो अध्यात्म के शिखर तक उसका पहुँच पाना सम्भव नहीं है।

यदि ऐसा कहा जाये कि तीर्थंकर २४ हैं, बुद्ध भी अनेक हो चुके हैं और भविष्य में भी होंगे, हम तो उनको आदर्श मानकर प्रज्ञा, शील, एवं समाधि के प्रति ही समर्पण भावना रखते हैं तथा विपश्यना एवं वीतराग योग की साधना करते हैं, तो हमें कैवल्य क्यों नहीं प्राप्त होगा?

इसके समाधान में यही कहा जा सकता है कि इस स्थिति में विपश्यना या वीतराग द्वारा तभी कैवल्य प्राप्त हो सकेगा, जब हृदय राग-द्वेषादि विकारों से मुक्त होकर आत्मा-परमात्मा के निषेध की कट्टरवादी साम्प्रदायिक मान्यता से भी परे हो जाये तथा हृदय में प्रेम भक्ति की शीतल धारा बहने लगे।

वेदों को हेय दृष्टि से देखना तथा गौतम बुद्ध के कथनों को अक्षरशः परम सत्य मानना कट्टरता एवं

पक्षपातपूर्ण मानसिकता है।

सुत्त निपात ७९२ (सुद्धङ्क सुत्त श्लोक ५) में लिखा है—

स्वयं समादाय बतानि जन्तु, उच्चावचं गच्छति संजसत्तो।

विद्वा च वेदेहि समेच्च च धम्मं, उच्चा वचं गच्छति भूरिप्पज्जो॥

अर्थात् इन्द्रियों के अधीन होकर अपनी इच्छा से कुछ काम तथा तप करते हुए लोग ऊँची—नीची अवस्था को प्राप्त करते हैं। जो विद्वान वेदों द्वारा धर्म का ज्ञान प्राप्त करता है, उसकी ऐसा डांवाडोल स्थिति नहीं होती।

इसी प्रकार सुत्त निपात श्लोक १०६० में भगवान बुद्ध कहते हैं—

विद्वा च सो वेदगु नरो इध भवाभवे संङ्गम इमं विसज्जा।

सो वीततण्हो अनिघो निरासो अतारि सो जाति जरांति ब्रूमीति॥

अर्थात् वेद को जानने वाले विद्वान इस संसार में जन्म या मृत्यु में आसक्ति का परित्याग करके , तृष्णा तथा पापरहित होकर, जन्म तथा वृद्धावस्था आदि के बन्धनों से पार हो जाता है, ऐसा मैं कहता हूँ।

धारणा सम्बन्धी समीक्षा

चित्त को किसी स्थान या रूप में बाँधना ही धारणा है। "देशबन्धः चित्तस्य धारणा" (योग दर्शन ३/१) से यही निष्कर्ष निकलता है। धारणा का परिपक्व रूप ही ध्यान है तथा ध्यान का परिपक्व रूप (गहनतम् स्थिति) समाधि है।

समाधि में ध्येय (परब्रह्म) का ही साक्षात्कार होता है, इसलिये धारणा में ब्राह्मी भाव होना अनिवार्य है। वेदान्त में इस सम्बन्ध में स्पष्ट निर्देश दिया गया है कि

धारणा केवल चैतन्य की ही होनी चाहिए, जड़ पदार्थ की नहीं। मुण्डकोपनिषद् २/४ के कथन "प्रणवो धनुः शरो हि आत्मा ब्रह्म तत् लक्ष्यमुच्यते" का यही आशय है।

जिसका चिन्तन किया जाता है, उसके मनः पटल पर वह अंकित हो जाता है तथा उसके गुण-दोष भी उसमें आ जाते हैं।

धारणा-ध्यान में यह प्रक्रिया और तेज हो जाती है। इस प्रकार, ध्याता (ध्यान करने वाले) में ध्येय के गुण-दोषों का आना स्वभाविक है।

यही कारण है कि ध्यान की वैदिक परम्परा में अनन्त प्रेम, ज्ञान, सौन्दर्य, आनन्द आदि गुणों वाले एकमात्र परब्रह्म के ही ध्यान का वर्णन है।

इसलिये पतञ्जलि ऋषि के योग दर्शन १/२८ में

"तज्जपस्तदर्थं भावनम्" अर्थात् अर्थ का चिन्तन करते हुए धीरे-धीरे मानसिक जप करना चाहिए, जिससे मन सांसारिक विचारों से हटकर परमात्मा की ओर लग जाये।

इसके विपरीत प्रायः विपश्यना योग का अभ्यास करने वालों में आत्मा-परमात्मा शब्द से ही परहेज होता है। नासिका से आने-जाने वाली सांसें ब्रह्म की तरह चेतन नहीं हैं। इतना अवश्य है कि श्वासों पर धारणा करने से चित्त सबल, सूक्ष्म, तथा निर्मल हो जाता है।

शरीर में होने वाली संवेदनाओं के प्रति कूटस्थ भावना रखने से ध्यान-समाधि की भूमिका तैयार हो जाती है।

यह निर्विवाद सिद्ध है कि श्रद्धापूर्वक विपश्यना

पद्धति से की गयी साधना योग के सर्वोच्च शिखर असम्प्रज्ञात (निर्बीज) समाधि तक पहुँचा सकती है, किन्तु इसके लिये सबसे पहली आवश्यकता है, परमात्म-तत्त्व के प्रति घृणा के संस्कारों को हटाना।

जब सम्पूर्ण प्राणिमात्र के लिये करुणा, प्रेम, तथा मंगल की कामना की जा सकती है, तो मात्र आत्मा-परमात्मा शब्द से निषेध (अस्वीकार) क्यों? वह कैसा अध्यात्म और कैसी साधना, जिसमें आत्मा-परमात्मा के लिये कोई स्थान ही नहीं?

मन या चित्त को एकाग्र करने के लिये योग दर्शन में अनेक उपाय बताये गये हैं—

१. अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः। योग दर्शन १/१२

ध्यान-साधना के निरन्तर अभ्यास तथा विषयों के

प्रति विवेकपूर्वक वैराग्य से चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है। जिस प्रकार किसी भी पक्षी के दो पंख होते हैं। इनमें किसी भी अकेले पंख से नहीं उड़ा जा सकता, बल्कि दोनों पंखों की सम्मिलित प्रक्रिया उड़ने का कार्य सम्पादित करती है। उसी प्रकार न केवल अभ्यास से और न केवल वैराग्य से, बल्कि दोनों साधनों द्वारा ही चित्त को एकाग्र किया जा सकता है।

२. प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य।

योग दर्शन १/३४

प्राणायाम द्वारा भी चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है।

३. विशोका वा ज्योतिष्मती। योग दर्शन १/३६

सात्विक अभ्यास से जिसका शोक अर्थात् रजोगुण

का परिणाम दूर हो गया है, वह प्रवृत्ति ज्योतिष्मती कहलाती है। इससे भी चित्त स्थिर हो जाता है।

४. वीतराग विषयं वा चित्तम्। योग दर्शन १/३७

विषयों का पूर्णतया त्याग करके वीतराग अवस्था को प्राप्त करने वाले योगियों, परमहंसों के चित्त का ध्यान करने से भी चित्त स्थिर हो जाता है।

५. स्वप्न निद्राज्ञानालम्बनं वा। योग दर्शन १/३८

जिस प्रकार स्वप्न में तमोगुण के कारण वृत्तियाँ अन्तर्मुखी होती हैं, उसी प्रकार ध्यान की अवस्था में तमोगुण के स्थान पर सतोगुण से वृत्तियों को अन्तर्मुखी करना चाहिए।

६. यथा अभिमतध्यानाद्वा। योग दर्शन १/३९

जिसका जो अभिमत (इष्ट) हो, उसके ध्यान से भी

मन बन्ध जाता है।

७. परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः।

योग दर्शन १/४०

जब उपरोक्त उपायों से चित्त में एकाग्र होने की योग्यता प्राप्त हो जाती है, तो वह पूर्णतया वश में हो जाता है और परमाणु जैसी अति सूक्ष्म तथा आकाश जैसे वृहद् विषय में भी बिना किसी बाधा के लगाया जा सकता है।

जैन दर्शन का ज्ञान, दर्शन, व चरित्र ही बौद्ध दर्शन का शील, समाधि, एवं प्रज्ञा है। विपश्यना, वीतराग, एवं पातञ्जल योग की वास्तविक साधना कैवल्य को प्राप्त कराने में समर्थ है। भगवान बुद्ध ने असम्प्रज्ञात समाधि का जो स्वरूप दर्शाया है, वह एक प्रकार से सांख्य-योग

की असम्प्रज्ञात (निर्वीज) समाधि का ही रूपान्तर है। वे कहते हैं—

भिक्षुओं! एक अकृत है, जहाँ न पृथ्वी है, न जल है, न उष्णता है, न वायु है, न आकाश है, न सूर्य है, न चन्द्रमा है, न जन्म है, न मृत्यु है। यहाँ जो कुछ भी है, उसकी न कभी वहाँ उत्पत्ति होती है और न कभी निरोध होता है।

यथार्थ का साक्षात्कार सहज नहीं है। सत्य का अवबोध आसान नहीं है। जो ज्ञानी है, वह तृष्णा पर काबू पा लेता है। जो यथार्थदर्शी है, उसके लिये सभी कुछ शून्य है।

(श्रावस्ती के जेतवनाराम में बुद्ध के प्रवचन से)
राहुल सांकृत्यायन के शब्दों में— सम्राट कनिष्क के

समय सबसे पहले बुद्ध की प्रतिमा बनायी गयी। महायान के प्रचार के साथ-साथ बुद्ध की प्रतिमाओं की पूजा बड़े ठाट-बाट से होने लगी। तारा, प्रज्ञा, विजया आदि देवियों की कल्पना के साथ अनेक बोधिसत्वों की भी पूजा करने के लिये बड़े-बड़े विशाल मन्दिर बन गये। धम्मपद के निर्देशों की अवहेलना करने के कारण महायान के अनुयायियों में वाममार्ग का प्रचलन चल पड़ा, जिसके परिणाम स्वरूप ब्रजयानी एवं तन्त्रयानी भोग-विलास में डूब गये।

आठवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक बौद्ध धर्म वस्तुतः ब्रजयान या भैरवी चक्र का धर्म था। इसे सहज यान भी कहा जाने लगा था। परिणामतः बौद्ध धर्म में अनाचार फैलता गया।

प्रेम और आनन्द के सागर उस सच्चिदानन्द

परमात्मा से विमुख होने का ही यह दुष्परिणाम था कि सभी बौद्ध इतने अकर्मण्य हो गये कि विश्वविख्यात नालन्दा विश्वविद्यालय के १८००० छात्र तथा २००० अध्यापक मुहम्मद बिन बख्त्यार उद्दीन के मात्र २०० घुड़सवारों के सामने भाग खड़े हुए। आत्मा-परमात्मा तथा वेद के प्रति तिरस्कार भावना ने वज्रयानी बौद्धों को स्वेच्छाचारी तथा नैतिक दृष्टि से पतित बना दिया था।

भगवान बुद्ध की सिखायी हुई विपश्यना पद्धति के त्याग तथा जड़-पूजा के कर्मकाण्डों में उलझने से बौद्ध धर्म के अनुयायियों में सत्य के अन्वेषण एवं अनुगमन की प्रवृत्ति लुप्तप्राय सी हो गयी। इसका दुष्परिणाम यह निकला कि कालान्तर में बौद्ध मत एक कट्टर साम्प्रदायिक विचारधारा का अनुसरण करने लगा।

यह कोरा भ्रम एवं मिथ्या विचार है कि

श्रीमद्भगवद्गीता तथा पातञ्जल योग की रचना ईसा की चौथी शताब्दी में की गयी है तथा भगवान बुद्ध की शिक्षाओं का ही आधार लेकर इन ग्रन्थों को लिखा गया है।

यद्यपि पतञ्जलि के कार्यकाल को लेकर विद्वानों में मतभेद है, किन्तु इतना तो निश्चय है कि योग दर्शन के रचनाकार पतञ्जलि कोई और हैं तथा व्याकरण के रचनाकार पतञ्जलि कोई और हैं, क्योंकि महर्षि पाणिनि कृत अष्टाध्यायी में वेद व्यास जी का नाम आता है।

पाराशर्य शिलालिभ्यां भिक्षुनट सूत्रयो। (४/३/११०)

पाणिनि कृत अष्टाध्यायी के व्याख्याकार भी पतञ्जलि हैं, जो उनके समकालीन थे। यह समय सम्भवतः ईसा की तीसरी शताब्दी का हो सकता है।

ऐसी मान्यता है कि पतञ्जलि ऋषि पुष्पमित्र शृंग के गुरु थे, किन्तु जिस महामुनि पतञ्जलि ने योग शास्त्र की रचना की है, निःसन्देह वे वेदव्यास जी से पहले ही हो चुके हैं, क्योंकि वेदव्यास जी ने योग शास्त्र पर विस्तृत भाष्य लिखा है।

यद्यपि अधिकांश विद्वानों का मत है कि वेदान्त दर्शन के रचनाकार पराशर पुत्र वेदव्यास जी ने ही योगदर्शन पर अपना भाष्य लिखा है, किन्तु बहुत से विद्वानों का ऐसा भी मत है कि योग दर्शन के भाष्यकार व्यास वेदान्त दर्शन के कर्ता वेदव्यास से बहुत पहले ही हो चुके हैं।

यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि महर्षि कपिल प्रणीत सांख्य दर्शन सबसे प्राचीन है तथा उसके पश्चात् योगदर्शन की रचना हुई है। सांख्य तथा योगशास्त्र की

रचना के पश्चात् ही शेष अन्य दर्शनों (वेदान्त, न्याय, मीमांसा, वैशेषिक) की रचना हुई है।

निःसन्देह श्रीमद्भगवद्गीता ५००० वर्ष पूर्व वेद व्यास प्रणीत महाभारत का अंश है। उसे भगवान बुद्ध के पश्चात् लिखा हुआ कहना सत्य को झुठलाना है।

सच तो यह है कि बौद्ध ग्रन्थों के बहुत से अंश वेदों, उपनिषदों, महाभारत आदि ग्रन्थों के भावानुवाद की तरह प्रतीत होते हैं। संक्षेप में उनकी कुछ झांकी प्रस्तुत है—

वैदिक साहित्य	बौद्ध साहित्य
१. यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन।	१. यो यजति तिविधं यज्ञ सम्पदं आराध्य दक्खिणेयं हि तादि। एवं यजित्वा

सम्मा याचयोगो पज्जति
ब्रह्मलोकं तिबूरमीति।

(सूतनिपात वग ३, सुत्त
५)

जो तीन प्रकार की यज्ञ
सम्पत्ति को जानकर यज्ञ
और आराधना करता है एवं
अपने अन्दर उदारता
धारण करता है, वह
ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है।

२. ब्रह्मेव सन् ब्रह्माप्येति।
(वृहदारण्यक उपनिषद्)
ब्रह्मरूप होकर ब्रह्म को

२. ब्रह्मभूतेन अत्तना
विहरति। (अंगुत्तर निकाय)
ब्रह्मरूप होकर विहार

प्राप्त करता है।	करता है।
<p>३. नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो ना समाहितः। नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैव माप्नुयात्। (कठोपनिषद् २/१/२४) जो न तो बुरे आचरण से पृथक् हुआ और न शान्त एवं एकाग्र मन वाला ही हुआ, वह मात्र बौद्धिक ज्ञान द्वारा ब्रह्म को प्राप्त नहीं कर सकता।</p>	<p>३. एकोदिवभूतो करुणादिमुक्तो निरायगन्धो विरतो मैथुनस्मा। एत्थत्थितो एत्थचसिक्खमानो पयोति मच्चो अमतं ब्रह्मलोकंति॥ (दीर्घ निकाय १९) मनुष्यों में ममता छोड़कर एकान्त में रहना, करुणा से युक्त होना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, तथा पापादि कर्मों से दूर रहना, उस</p>

	अमृतमयी ब्रह्मलोक को प्राप्त कराता है।
<p>४. यथा नः सर्व इज्जनोऽनमीवः संगमे समना असत्।</p> <p>(यजुर्वेद ३३/८६)</p> <p>सभी निरोग और स्वस्थ मन वाले हों।</p> <p>इन्द्रो विश्वस्य राजति शंनो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे।</p> <p>(यजुर्वेद ३६/८)</p> <p>दो पैर वाले और चार पैर वाले सभी प्राणियों का</p>	<p>४. सब्बे सत्ता सुखी होन्तु, सब्बे होन्तु च खेमिन्तो। सब्बे भद्राणि पस्सन्तु, मा काच्चि दुखभागमा।</p> <p>(बौद्धचर्या पद्धति पृ. ३६)</p> <p>सभी सुखी हों, सभी निरोग हों। सभी एक-दूसरे का कल्याण चाहें और कोई भी दुःखी न हो।</p>

कल्याण हो।

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो
अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते
पुरुषेभ्यः।

(अथर्ववेद १/३१/४)

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे
सन्तु निरामयाः। सर्वे
भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्
दुःख भागभवेत्॥

५. अन्यो अन्यं वल्गु
वदन्त एव।

(अथर्ववेद ३/३०/४)

वाचं जुष्टामवादिषं देवानां

५. सम्मा वाचा (सम्यक्
वाक्)

<p>देवहुतिषु।</p> <p>(अथर्ववेद ५/७/४)</p>	
<p>६. परिमाग्रे दुश्चरिताद् बाधस्वा मा सुचरिते भज।</p> <p>(यजुर्वेद ४/२८)</p> <p>हे परमात्मा! हमें बुरे आचरण से हटाकर सदाचार में लगाइये।</p>	<p>६. सम्माकम्मन्त (सम्यक् कर्म)</p>
<p>७. शुद्धोरयिं निधारय , शुद्धि ममद्वि सोम्य।</p> <p>(ऋग्वेद ५/९/५)</p>	<p>७. सम्मा अजीवा (सम्यक् आजीविका)</p>
<p>८. तितिक्षन्ते अभिशस्ति</p>	<p>८. नहि वेरेण वेराणि ,</p>

<p>जनानाम्। (ऋग्वेद १/३४) क्रुधयन्तं न प्रतिक्रुध्येदाकृष्टः कुशलं वदेत। (मनुस्मृति ३/४८) क्रोध करने वाले पर भी क्रोध न करें। गाली देने वाले को भी आशीर्वाद दें।</p>	<p>समन्तीध कदाचन। अवेरेणतु सम्मन्ति, एस धम्मो सनंतनो। वैर से वैर कभी शान्त नहीं होता, वह अवैर से ही शान्त होता है।</p>
<p>९. अक्रोधेन जयेत्क्रोधम्, असाधु साधुना जयेत्। जयेत् कदर्यं दानेन , जयेत्सत्येन चानृतं॥</p>	<p>९. अक्रोधेन जिने क्रोधं असाधुं साधुना जिने। जिने कदरियं दानेन सच्चेन अलिक वादिनं॥</p>

<p>(महाभारत उद्योगपर्व ७१/५९)</p>	<p>(धम्मपद क्रोध वग्गो श्लोक ३)</p>
<p>१०. यत्कल्याणमभिध्याये त तत्रात्मानं नियोजयेत्। न पापं प्रति पापः स्यात् साधुरेव सदा भवेत्॥</p> <p>(महाभारत वनपर्व २०६/४४)</p> <p>मनुष्य को सर्वदा कल्याणमयी शुभ कर्मों में स्वयं को लगाना चाहिए। पापियों के प्रति भी पापी नहीं होना चाहिए।</p>	<p>१०. सुसुखं वत जीवाम्, वेरिनेमु अवेरिनो। वेरिनेसु मनुस्सेसु, विहरामअवेरिनो॥</p> <p>(धम्मपद सुख वग्गो)</p> <p>अर्थात् वैरियों के प्रति अवैर एवं पापियों के प्रति निष्पाप की भावना रखनी चाहिए।</p>

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा
मनसा गिरः।

अनुग्रहश्च दानं च सतां
धर्मः सनातनः॥

(महाभारत वनपर्व
२९३/३४)

मन, वाणी, और कर्म से
सभी प्राणियों में अद्रोह ,
अहिंसा, दया, और दान
की भावना रखना ही
सनातन धर्म है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भगवान बुद्ध ने वाममार्गियों के कारण वैदिक धर्म में आयी हुई विकृतियों को दूर किया। उनकी ध्यान प्रक्रिया भी सांख्य योग का ही रूपान्तर है। कालान्तर में उनके शिष्यों द्वारा अनात्मवाद एवं अनीश्वरवाद की जो मान्यता प्रचलित की गयी, वह खेद का विषय है।

४. पौराणिकों का साकार ध्यान

सामान्यतः पौराणिक हिन्दू समाज ब्रह्मा, विष्णु, शिव, राम, हनुमान, लक्ष्मी, सरस्वती आदि देवी – देवताओं की पूजा-भक्ति किया करता है। ध्यान-साधना के माध्यम से इन सूक्ष्म शरीरधारी देव-देवियों का दर्शन किया जा सकता है, किन्तु यह परमात्म दर्शन नहीं है और इससे मोक्ष की प्राप्ति भी नहीं मान लेनी चाहिए।

ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि "एकमेव अद्वितीयं ब्रह्म" अर्थात् परब्रह्म एक है, उसके समान अन्य कोई भी नहीं हो सकता। इस प्रकार, एक परब्रह्म को छोड़कर अन्य किसी का ध्यान निरर्थक है। वह अखण्ड मुक्ति नहीं दिला सकता।

योग दर्शन ३/३२ में कहा गया है कि "मूर्ध ज्योतिषि सिद्ध दर्शनम्" अर्थात् मूर्धा की ज्योति में संयम (धारणा, ध्यान, एवं समाधि) करने से सिद्धों (देव-देवियों) का दर्शन होता है।

शिर में ब्रह्मरन्ध्र नामक एक छिद्र होता है। उसमें प्रकाश वाली जो ज्योति है, उसमें संयम करने से सिद्ध पुरुषों अर्थात् सूक्ष्म शरीरधारी देव-देवियों के दर्शन होते हैं। इनका दर्शन सामान्य प्राणियों को नहीं होता, किन्तु ध्यान द्वारा इनका साक्षात्कार भी हो जाता है तथा

सम्भाषण भी।

द्रष्टव्य- मूर्धा-ज्योति का सम्बन्ध भृकुटी अर्थात् आज्ञा चक्र से है। ब्रह्मरन्ध्र में मन तथा प्राण को स्थिर करने के बाद जब आज्ञा चक्र में ध्यान किया जाता है, तब मूर्धा ज्योति के सत्व गुण के प्रकाश में सूक्ष्म जगत का अनुभव होने लगता है तथा सूक्ष्म शरीरधारी इष्टों (ब्रह्मा, विष्णु, शिव, राम, हनुमान, लक्ष्मी, सरस्वती आदि) का दर्शन होने लगता है।

५. हठयोगियों का शून्य ध्यान

नेति, धौती, वस्ति, नौली, त्राटक, तथा कपालभाति द्वारा सम्पूर्ण शरीर का शोधन किया जाता है। इसके पश्चात् खेचरी आदि मुद्राओं, प्राणायामों, तथा बन्धों द्वारा चक्रों को जाग्रत करने की प्रक्रिया अपनायी

जाती है। इस मार्ग में ध्यान-समाधि का अन्तिम परिणाम निराकार-शून्य की उपलब्धि होती है। नाथ पन्थ के अनुयायियों का यह प्रिय मार्ग रहा है।

६. विहङ्गम (सुरति-शब्द) योग

विहङ्गम का अर्थ पक्षी होता है। जिस प्रकार कोई पक्षी किसी वृक्ष पर लगे हुए फल को प्राप्त करने के लिये पृथ्वी का धरातल छोड़कर उड़ता है और फल तक पहुँच जाता है, उसी प्रकार इस ध्यान पद्धति में प्रकृति के सम्पूर्ण बन्धनों को छोड़कर सीधे ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। आत्मा रूपी पक्षी (हंस) महाकारण तथा कैवल्य स्वरूप का भी अतिक्रमण करके अखण्ड ब्रह्म रूपी फल को प्राप्त कर लेता है। मूलतः यह पद्धति वैदिक है और सृष्टि के प्रारम्भिक काल से नारायण अथवा आदि महान योगियों द्वारा अब तक चली आ रही

है। कलियुग में इसे कबीर जी ने प्रचलित किया है। राधा स्वामी, सन्त मत आदि पन्थों में इसी विहङ्गम योग का ही आंशिक या पूर्ण रूप से अनुसरण किया जाता है।

महर्षि पतञ्जलि के राजयोग की अन्तिम उपलब्धि कैवल्य है। इससे एक कदम आगे विहङ्गम योग की उपलब्धि है, जिसमें जीव कैवल्य पद का अतिक्रमण करके हंस अवस्था को प्राप्त करता है और परम गुहा (एकादश द्वार) में ब्रह्म का साक्षात्कार करता है।

संक्षेप में ५ भूमिकाओं में इस योग पद्धति का वर्णन इस प्रकार है—

१. प्रथम भूमिका में नासिका पर अधखुली आँखों द्वारा देखा जाता है। इस सम्बन्ध में गीता ६/१३ में कहा गया है—

संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं दिशश्च नावलोकयन्।

यह प्रक्रिया विपश्यना के प्रथम चरण के बहुत अधिक निकट है।

२. द्वितीय भूमिका में दोनों भौंहों के बीच (भृकुटी में) तथा ऊपर (त्रिकुटी में) संयम करने से क्रमशः निरञ्जन एवं ॐ शब्द की अनुभूति होती है एवं दिव्य प्रकाश भी दिखायी पड़ता है। इसी भूमिका में १० प्रकार के अनहद (ताल, मृदंग, डम्फ, मुरली, वीणा, झांझ, किंकिण, शहनाई, सिंह, एवं बादल की गर्जना) के स्वर सुनायी पड़ते हैं।

३. तीसरी भूमिका में भ्रमर गुफा में संयम करने पर सोऽहं शब्द एवं प्रकाश का अनुभव होता है। इसके आगे शक्ति शब्द तथा दशम् द्वार में संयम करने पर ररं शब्द

एवं झिलमिली ज्योति का साक्षात्कार होता है। यहाँ तक प्रकृति मण्डल की साधना है।

४. चौथी भूमिका में सुषुम्ना प्रवाहित होती है, जिससे योगी त्रिकालदर्शी हो जाता है। इस स्थिति में दशम द्वार पर आवरण डाली हुई सुषुम्ना का मुख हट जाता है, जिससे अन्दर दिव्य प्रकाश आता है तथा सभी चक्रों का भेदन स्वतः ही हो जाता है। इस अवस्था में जीव कैवल्य पद को प्राप्त कर लेता है।

योग दर्शन, विपश्यना, एवं वीतराग योग द्वारा यहाँ तक की उपलब्धि होती है, जिसमें जीव अपने आत्म-स्वरूप में स्थित हो जाता है। किन्तु उसके सामने महाशून्य का पर्दा पड़ा रहता है, जिसे उलंघकर कोई विरला ही अखण्ड धाम (बेहद मण्डल) में प्रवेश करता है तथा ब्रह्म का दर्शन करता है।

५. पाँचवी तथा अन्तिम भूमिका में जीव कैवल्य का भी अतिक्रमण करके अपनी शुद्ध "हंस" अवस्था में विद्यमान होता है। वह ब्रह्म के जोश स्वरूप (सद्गुरु, जिबरील) के सहारे प्रेम रूपी मकरतार की डोरी पकड़कर महाशून्य को पार कर जाता है। इस स्थिति में जीव अपनी सात सुरति (चित्ति शक्ति) के पर्दे को पार कर आठवीं निरति (हंस रूप) के रूप में दशम द्वार से दो अंगुल ऊपर जब ध्यान करके एकादश द्वार से (परम गुहा, अम्बुदीप) में पहुँचता है, तो उसे करोड़ों सूर्यों के समान चमकते हुए बेहद मण्डल (ब्रह्मपुरी) में विराजमान ब्रह्म का दर्शन होता है। वस्तुतः यही विहङ्गम या परम योग है। कबीर जी ने इस सम्पूर्ण योग पद्धति को मात्र एक दोहे में कह दिया है—

तन थिर मन थिर पवन थिर, सुरति निरति थिर होय।

कह कबीर ता पलक की, कल्प न पावे कोय॥

प्रश्न- यह कैसे माना जा सकता है कि कैवल्य पद को प्राप्त करना ब्रह्म की प्राप्ति करना नहीं है?

उत्तर- यद्यपि कैवल्य की अवस्था में अपने आत्म-स्वरूप में स्थिति अवश्य हो जाती है, किन्तु यह ब्रह्म साक्षात्कार नहीं है। इस अवस्था में राग - द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि विकारों से पूर्णतया मुक्ति तो हो गयी होती है, किन्तु अस्मिता का कुछ भाव बना रहता है, जो प्रेममयी शुद्ध हंस अवस्था से पूर्व की अवस्था है।

यदि यह माना जाये कि योग दर्शन १ / १७ में कहा गया है कि "वितर्क विचारानन्दस्मितानुगमात् संप्रज्ञातः"

अर्थात् संप्रज्ञात् समाधि में ही अस्मिता का अस्तित्व होता है, असम्प्रज्ञात समाधि में नहीं , तो इसका समाधान इस प्रकार है—

आनन्द अनुगत समाधि में अहंकार का साक्षात्कार होता है। इस अवस्था में "अहमस्मि" वृत्ति द्वारा अहंकार के आनन्द का अनुभव होता है। जो योगी आत्म-साक्षात्कार से वंचित रह जाते हैं, वे देह-त्याग के पश्चात् विदेह (शरीर रहित) अवस्था में कैवल्य पद जैसी स्थिति को प्राप्त कर इसी आनन्द को भोगते रहते हैं। यह विदेहावस्था विचार अनुगत भूमि में बतलाये हुए सूक्ष्म लोकों से अधिक सूक्ष्म आनन्द और अवधि वाली है , किन्तु यह भी बन्धन रूप ही है, वास्तविक मुक्ति नहीं।

अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि में अस्मिता का साक्षात्कार होता है। इस अवस्था को प्राप्त योगियों को

प्रकृतिलय की संज्ञा प्राप्त है। यह अति ऊँची भूमिका असीम आनन्द वाली और कैवल्य पद के तुल्य है, किन्तु बन्ध रूप है, क्योंकि वास्तविक कैवल्य नहीं है।

परवैराग्य द्वारा विवेक ख्याति रूप सात्विक वृत्ति के निरुद्ध हो जाने पर द्रष्टा अपने शुद्ध आत्म-स्वरूप में स्थित हो जाता है। यही असम्प्रज्ञात अथवा निर्बीज समाधि है। इस समय चित्त में कोई भी वृत्ति नहीं रहती है, किन्तु वृत्तियों को हटाने वाला निरोध का परिणाम रहता है।

जब निरोध के संस्कार व्युत्थान (क्षिप्त, मूढ़, तथा विक्षिप्त- इन तीनों भूमियों) के सभी संस्कारों को नष्ट कर देते हैं, तब वे स्वयं भी वैसे ही नष्ट हो जाते हैं, जैसे सीसा सुवर्ण के मल को जलाकर स्वयं भी जल जाता है। तब शरीर छोड़ने पर चित्त को बनाने वाले गुण अपने-

अपने कारण में लीन हो जाते हैं और द्रष्टा अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाता है। इस कैवल्य को ही वास्तविक मुक्ति कहते हैं।

क्षर ब्रह्माण्ड के जीवों की अन्तिम आध्यात्मिक उपलब्धि यही है, क्योंकि जिस नारायण की चेतना का प्रतिभास उनके अन्दर है, वे स्वयं भी इस कैवल्य अवस्था में ही हैं। इस अवस्था में यद्यपि मायावी प्रपञ्चों से परे की अवस्था तो हो जाती है, किन्तु अनन्तदृष्टि महाशून्य (मोह सागर, निराकार) का भेदन करके अखण्ड धाम (बेहद मण्डल) में नहीं पहुँच पाती।

असम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त होने वाले स्वामी विवेकानन्द ने इस अवस्था का वर्णन एक कविता के रूप में इस प्रकार किया है—

सूर्य भी नहीं है, ज्योति सुन्दर शशांक नहीं।

छाया सा व्योम में, यह विश्व नजर आता है॥

बन्द वह धारा हुई, शून्य में मिला है शून्य।

अवाङ्ग मनसगोचरम वह जाने जो ज्ञाता है॥

इस कविता में महाशून्य के साथ-साथ अव्याकृत के स्वाप्निक स्वरूप ॐ की ज्योतिर्मयी शोभा का वर्णन किया गया है।

स्वप्नद्रष्टा स्वप्न में स्वयं को जिस रूप में देखता है, वह पूर्ण जैसा ही होता है। अक्षर ब्रह्म का मन अव्याकृत (ॐ) है। वह स्वप्न में मोह सागर (मूल प्रकृति, महाशून्य) में प्रतिबिम्बित होकर भी ॐ के स्वरूप में स्वयं को पाता है, किन्तु इस अवस्था में वह निराकार से परे की बात नहीं जानता। श्रीमुखवाणी में

इसे इस रूप में प्रस्तुत किया गया है—

फिरे जहां थें नारायन, नाम धराया निगम।

सून्य पार ना ले सके, हटके कहया अगम॥

सनंध ५/४०

जब वेदान्त के ग्रन्थों में वर्णित ईश्वर (आदिनारायण, शबल ब्रह्म, हिरण्यगर्भ) इस निराकार के परे नहीं जा सकते, तो उनके प्रतिभास स्वरूप जीव कहाँ से जा सकते हैं। यही कारण है कि भगवान बुद्ध, महावीर स्वामी ने जिस महाशून्य को ही सर्वोपरि मान लिया, वही रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द आदि ने ईश्वर (नारायण) के ही स्वरूप को देखकर ब्रह्म-साक्षात्कार मान लिया और कैवल्य पद को वास्तविक मुक्ति मान ली। इस अवस्था में उन्होंने शबल ब्रह्म (ईश्वर, आदिनारायण) को

ज्योतिर्मयी रूप देखा, तो प्रकृति एवं सामान्य जगत का भी रूप देखा।

यद्यपि इस कैवल्य पद में अपने आत्म-स्वरूप में स्थित हो जाने से व्यष्टिगत प्रकृति से पार तो हो जाते हैं, किन्तु समष्टि प्रकृति से नहीं। इसलिये ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार नहीं हो पाता।

इस अवस्था को प्राप्त करने के लिये वेद में स्पष्ट रूप से निर्देश दिया गया है—

सुपर्णोऽसि मुरुत्मान दिवं गच्छ स्वः पत।

यजुर्वेद १२/४

हे जीव! तू अपने शुद्ध स्वरूप में सुन्दर पँखों से उड़ने वाले हंस की तरह है। तू ध्यान द्वारा द्युलोक (महाशून्य) से भी परे ब्रह्म के अखण्ड बेहद (आनन्दमयी

धाम) को प्राप्त कर।

दशम् द्वार में ध्यान करने पर जहाँ कैवल्य पद की प्राप्ति होती है, वहीं एकादश द्वार (दसवें द्वार या सिर से २ अंगुल ऊपर) ध्यान करने पर एक श्वेत चमकती हुई भूमिका दिखायी देती है, जिसे एकादश द्वार या परमगुहा कहते हैं। इसी में ध्यान-समाधि करने पर अखण्ड ब्रह्म के दर्शन होते हैं। वेद, उपनिषद, दर्शन आदि में सर्वत्र परमगुहा में ही ब्रह्म के साक्षात्कार का वर्णन है, जबकि महर्षि पतञ्जलि के योग दर्शन में कहीं भी परमगुहा शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। इसलिये योग दर्शन की उपलब्धि कैवल्य पद को प्राप्त कराना है, जिसे प्राप्त करके हंस अवस्था में आकर परमगुहा में ब्रह्म का साक्षात्कार करना होता है।

नोट- अक्षर, अक्षरातीत, एवं योग सम्बन्धी विशेष

जानकारी के लिये कृपया "सत्याञ्जलि" ग्रन्थ का अवलोकन करें।

वेनस्तत् पश्यत्परमं गुहां यद् यत्र विश्वं भवत्येकरुणम्।

अथर्व २/१/१

अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित योगी उस ब्रह्म को परमगुहा में देखता है, जहाँ के अखण्ड स्वरूप में सब कुछ एकरूप हो रहा है।

गुहां प्रविष्वात्मनौ हि तत् दर्शनात्।

वेदान्त दर्शन १/२/११

अर्थात् परमगुहा में ही आत्मा -परमात्मा का साक्षात्कार होता है।

पश्यत्सु इह एव निहितं गुहायाम्।

मुण्डक उपनिषद् ३/१/७

देखने वालों के लिये वह ब्रह्म परमगुहा में विद्यमान है।

द्रष्टव्य— विपश्यना, शून्य समाधि, तथा वीतराग योग में संकल्प-विकल्प का अभाव होता है, किन्तु इनमें सूक्ष्म सा अन्तर होता है। विपश्यना पद्धति में जहाँ संवेदनाओं के प्रति कूटस्थ भाव रखते हुए स्वयं को संकल्प-विकल्प से रहित किया जाता है, वहीं हठयोग की शून्य समाधि में किसी भी प्रकार का संकल्प-विकल्प नहीं होता। इस अवस्था में किसी भी प्रकार के जप, धारणा, ध्यान आदि की प्रक्रिया नहीं होती। परिणाम स्वरूप, शरीर, इन्द्रियों, तथा अन्तःकरण में शून्यता एवं जड़ता आ जाती है, प्राणों की गति प्रायः रुक सी जाती है, कानों से कोई भी शब्द सुनायी नहीं पड़ता।

जब समाधि से उठने का अवसर होता है, तो उस समय ब्रह्मरन्ध्र में चेतना (स्फूर्ति) सी प्रारम्भ होती है। उस समय आँखें भी बहुत कठिनता से खुलती हैं। आसन खुलने में भी लम्बा समय लग जाता है, क्योंकि सम्पूर्ण शरीर अकड़ा होता है।

शून्य समाधि की अवस्था में न तो किसी प्रकार के आनन्द का अनुभव होता है और न कोई ज्ञान-विज्ञान ही प्राप्त होता है। यह गहन निद्रा निर्विकल्प समाधि तथा असम्प्रज्ञात समाधि से भिन्न की अवस्था है। इसमें आत्म-साक्षात्कार या ब्रह्म-साक्षात्कार नहीं होता।

विपश्यना पद्धति के साधक इस कट्टरवादी मानसिकता से ग्रस्त हैं कि सब कुछ शून्य ही शून्य है और क्षणिक है। न तो आत्मा है और न परमात्मा है, तो उन्हें आत्म-साक्षात्कार हो पाना सम्भव नहीं है। यद्यपि

भगवान बुद्ध को आत्म-साक्षात्कार हुआ था और उन्होंने कैवल्य की अवस्था को प्राप्त भी किया, किन्तु कालान्तर में उनका ज्ञान शुष्क अनात्मवाद का शिकार हो गया।

जैन दर्शन के अनुयायी यदि आत्म-साक्षात्कार की भावना से वीतराग योग की साधना करते हैं तो आत्म-साक्षात्कार अवश्य होगा, किन्तु इसके लिये यह आवश्यक है कि आत्म-साक्षात्कार को ध्येय बनाया जाये तथा शून्यवाद की जड़ समाधि से परे होने का मार्ग अपनाया जाये।

महर्षि पतञ्जलि ने योग दर्शन में कहीं भी शून्य समाधि का वर्णन नहीं किया है, क्योंकि इसके द्वारा आत्मा एवं परमात्मा का साक्षात्कार नहीं हो सकता। योग दर्शन के जिस सूत्र से प्रायः शून्य समाधि का भ्रान्तिवश भाव लिया जाता है, वह है—

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।

योग दर्शन ३/३

अर्थात् वह ध्यान ही समाधि कहलाता है, जिसमें केवल ध्येय अर्थ मात्र से भासता है (दृष्टिगोचर होता है) और उसका (ध्यान का) स्वरूप शून्य जैसा हो जाता है। दूसरे शब्दों में, ध्यान जब अर्थ मात्र निर्भास होता है अर्थात् ध्यान जब इतना प्रगाढ़ होता है कि उसमें केवल ध्येय विषय की ही ख्याति होती रहती है, तब उसे समाधि कहते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि योग दर्शनकार ने हठयोग की जड़ता वाली शून्य-समाधि का कोई वर्णन नहीं किया है। विपश्यना, पातञ्जल योग, एवं वीतराग योग द्वारा कैवल्य की प्राप्ति कर लेने के पश्चात् भी जब तक

समष्टि अहम् एवं अस्मिता के पर्दे को भेदकर अखण्ड की धारणा-ध्यान की प्रक्रिया नहीं अपनायी जायेगी, तब तक ब्रह्म-साक्षात्कार होना सम्भव नहीं है।

उपरोक्त विवेचना से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि जब तक साधना में ब्रह्म को ध्येय न बनाया जाये तथा उसमें प्रेम, श्रद्धा, एवं समर्पण का रस न डाला जाये, तब तक किसी भी पद्धति से ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हो सकता। प्रेमशून्य शुष्क हृदय अस्मिता के पर्दे को नहीं हटा सकता। वह सिद्धियों का स्वामी बनकर सम्मान तो पा सकता है, किन्तु ब्रह्म-साक्षात्कार से वंचित रहना पड़ेगा।

७. सूफी फकीरों की ध्यान पद्धति

सूफी फकीरों की भक्ति शरियत (कर्मकाण्ड) से

अलग तरीकत (उपासना) एवं हकीकत (ज्ञान) के सिद्धान्त पर आधारित होती है। इस प्रक्रिया में वे इश्क-ए-हकीकी (सच्चे प्रेम) की राह को अपनाते हैं। मजाजी (झूठे सांसारिक प्रेम) को छोड़कर अल्लाह के इश्के रात्रि के ९ बजे से लेकर प्रातःकाल के ३ बजे तक इनकी बन्दगी का विशिष्ट समय होता है। इस सम्बन्ध में कुरआन के सूरे बकर एवं सूरे मुजम्मिल के कथन विशेष महत्व रखते हैं- "जो मेरी ओर एक हाथ बढ़ता है, तो मैं उसकी ओर १० हाथ बढ़ता हूँ। यदि कोई मेरी ओर चलता है, तो मैं उसकी ओर दौड़ता हूँ। ए बन्दे! मैं कहीं इधर-उधर नहीं, दिल में रहता हूँ।"

ए चादर ओढ़े हुए मुहम्मद! मैं तुमसे विशेष कार्य लेने जा रहा हूँ। इसलिये, आधी रात से कुछ पहले और आधी रात के कुछ बाद तक (९-३ बजे तक) मेरी

इबादत किया कर।

सूफियों की बन्दगी (भक्ति) तौहीद (एकेश्वरवाद) के सिद्धान्त पर आधारित है। वे स्वयं को आशिक (प्रेमी) एवं अल्लाह को माशूक (प्रेमास्पद) मानते हैं। इनकी बन्दगी में तपश्चर्या के साथ विरह का गहरा रस होता है।

भारत में होने वाले अधिकतर सूफियों ने भारतीय योगियों की योग पद्धतियों का काफी कुछ अपनी उपासना में मिश्रण कर लिया है। वे भी सुरति शब्द योग के अनहद सोऽहम् आदि की धारणाओं को स्वीकार करते हैं तथा अहम् ब्रह्मास्मि को "अनलहक" के कथन के रूप में देखते हैं।

तारतम ज्ञान (इल्म-ए-लदुन्नी) के अभाव में सूफी फकीरों को यद्यपि अर्श -ए-अजीम (परमधाम) का

अनुभव नहीं हो सका है, फिर भी इनकी विरह भावना प्रशंसनीय है। एक सूफी फकीर शेख बयाजीद मस्तानी हुए हैं, जिन्होंने महाशून्य में स्थित ज्योति स्वरूप (प्रणव, आदिनारायण) का साक्षात्कार किया है।

शेख निजामुदीन औलिया, सांई बुल्लेशाह, बाबा फरीद आदि अनेक प्रसिद्ध सूफी फकीर हो चुके हैं, जिन्होंने अपनी रुहानी बन्दगी से समाज को एक दिशा दी है।

८. निजानन्द योग

वैदिक एवं सन्त योग पद्धति (विहङ्गम योग) के अभ्यास से जिस परमगुहा में ब्रह्म-साक्षात्कार होता है, उसका फल अक्षर ब्रह्म की चतुष्पाद विभूति (बेहद मण्डल) की प्राप्ति है। अथर्ववेद २/१/२ में स्पष्ट रूप से

कहा गया है कि परम गुहा में प्रविष्ट होने पर त्रिपाद अमृत (सबलिक, केवल, एवं सत्स्वरूप) की प्राप्ति होती है।

त्रीणि पदानि निहिता गुहास्थ यस्तानि वेद स पितुष्पितासत्।

किन्तु यजुर्वेद ३१/४ का कथन है कि वह परब्रह्म तो त्रिपाद अमृत के भी परे है—

त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः।

मुण्डकोपनिषद १/२/४ में भी कहा गया है—

शुभ्रो हि अक्षरात् परतः परः।

अर्थात् वह पूर्ण ब्रह्म अक्षरातीत अक्षर ब्रह्म से भी परे है।

वैदिक योग पद्धति अब तक विश्व की सर्वोपरि योग पद्धति रही है। इसका आश्रय लेकर भगवान विष्णु, शिव, सनकादि, कबीर, शुकदेव आदि ने निराकार मण्डल को पारकर अक्षर ब्रह्म के बेहद मण्डल का साक्षात्कार किया

है, किन्तु अक्षरातीत परब्रह्म का दर्शन करने के लिये तो किसी अन्य प्रक्रिया को ही अपनाना पड़ेगा।

यह हमारा परम सौभाग्य है कि सच्चिदानन्द परब्रह्म की कृपा से तारतम ज्ञान के प्रकाश में अनन्य प्रेम लक्षणा भक्ति का वह अमृतमय मार्ग प्राप्त हुआ है, जिसके द्वारा अनायास ही परमधाम में विराजमान अक्षरातीत परब्रह्म का साक्षात्कार हो सकता है।

इस स्वर्णिम पथ का नाम है निजानन्द योग। बोलचाल की भाषा में इसे चितवन या चितवनि भी कहते हैं। इस ध्यान पद्धति की व्याख्या इस ग्रन्थ के चौथे एवं पाँचवे अध्याय में की जायेगी।

॥ इसके साथ ही द्वितीय तरंग पूर्ण हुई ॥



तृतीय तरंग

विभूतियों की निरर्थकता

किसी समय स्वामी रामतीर्थ जी ऋषिकेश में नाव द्वारा गंगा जी को पार कर रहे थे। किनारे पर उतरते ही एक महात्मा जी से उनकी भेंट हो गयी। वे आश्चर्य-भरे स्वर में कहने लगे—

"रामतीर्थ! मैंने तो आपकी बहुत ख्याति सुनी थी। लेकिन आपको नाव से नदी पार करते हुए देखकर मुझे बहुत आश्चर्य हो रहा है।"

"किन्तु इसमें आश्चर्य की क्या बात है?"

"आप इतने प्रसिद्ध महात्मा होकर भी नाव से नदी पार कर रहे हैं। मैं तो खड़ाऊ पहनकर नदी के जल के ऊपर वैसे ही चलता हूँ, जैसे सूखी जमीन पर।"

"इस सिद्धि को प्राप्त करने में आपको कितने वर्ष साधना करनी पड़ी है?"

"पूरे बारह वर्ष।"

"तब तो आपकी १२ वर्षीय साधना का मूल्य मात्र दो पैसे है। मैंने दो पैसे देकर आसानी से नदी को पार कर लिया।"

महात्मा जी का सिर लज्जा से झुक गया। स्वामी जी ने उन्हें समझाया—

"आपने इतना परिश्रम यदि परमात्मा को प्राप्त करने के लिये किया होता, तो सम्भवतः भवसागर से पार हो जाते। इस दो कौड़ी की सिद्धि का क्या महत्व है।"

वस्तुतः ये सिद्धियाँ क्या हैं?

किसी एक ही विषय में धारणा, ध्यान, एवं समाधि

की प्रक्रिया संयम कहलाती है।

त्रयमेकत्र संयमः।

योग दर्शन ३/४

यह ध्यान रखने योग्य तथ्य है कि जिस वस्तु की सूक्ष्मता जितनी अधिक बढ़ती है, उसकी शक्ति भी उतनी अधिक होती जाती है।

संयम में चित्त का ही सारा खेल होता है। चित्त सबसे सूक्ष्म होने के कारण यथोचित परिणाम उत्पन्न करता है। सभी चमत्कार या सिद्धियाँ चित्त के संयम का ही परिणाम हैं। चलती हुई ट्रेन को रोक देना या एक साथ कई टिकट प्रकट कर देना, सब कुछ चित्त के संयम एवं संकल्प का ही परिणाम है।

जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजा सिद्धयः।

योग दर्शन ४/१

अर्थात् जन्म से दिव्य औषधियों के सेवन, मन्त्र, तप, तथा समाधि से सिद्धियों का प्रकटन होता है।

संक्षेप में इनका विवरण इस प्रकार है—

१. जन्म से— पूर्वजन्मों का योगबल जब जन्म के साथ ही प्रकट हो जाता है, तो उसे जन्म के साथ ही प्रकट होने वाली सिद्धि कहा जाता है। महर्षि कपिल, शुकदेव, दत्तात्रेय, तथा आदि शंकराचार्य में जन्म से ही सिद्धियाँ प्रकट थीं।

२. औषधि से— पारे आदि रसायनों के योग से शरीर में विलक्षण परिणाम प्रकट हो जाते हैं। त्रिफला, सोमरस, च्यवनप्राश आदि औषधियों के सेवन से भी कायाकल्प की सम्भावना होती है।

३. मन्त्र से— मन्त्रों के एकाग्रतापूर्वक जप से भी

सिद्धियाँ प्रकट होती हैं। बिच्छू आदि का विष-हरण इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

४. तप से- तप द्वारा भी चित्त की शुद्धि होती है और संकल्प द्वारा चमत्कारिक कार्य सम्पन्न होते हैं। विश्वामित्र, जाजलि, भारद्वाज आदि ऋषियों ने तप द्वारा आश्चर्यजनक सिद्धियाँ प्राप्त की थीं।

५. समाधि- समाधि द्वारा योगी अलौकिक सिद्धियों को प्राप्त करता है। योग दर्शन के तीसरे पाद में समाधि से उत्पन्न होने वाली सिद्धियों का वर्णन किया गया है , जिनका चित्रण आगे किया जा रहा है-

१. पशु-पक्षियों की बोली जानना - योगी को समाधि अभ्यास से प्रज्ञा की प्राप्ति होती है। इसलिये वह शब्द, अर्थ, तथा ज्ञान के विभाग में संयम करने से इस

शब्द का अर्थ और शब्द-अर्थ दोनों के सम्बन्धी ज्ञान को जान लेता है तथा सभी प्राणियों की बोली को समझ लेता है। नाथ पन्थ के प्रसिद्ध आचार्य गुरु गोरखनाथ जी के विषय में प्रसिद्ध है कि वे सभी प्राणियों की भाषा जान जाते थे। इस सम्बन्ध में योग दर्शन ३ / १७ का कथन है—

**शब्दार्थ प्रत्ययानामितरेतराध्यासात्
संकरस्तत्प्रविभागसंयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम्।**

अर्थात् शब्द, अर्थ, और ज्ञान के परस्पर के अध्यास से अभेद भासता (अनुभव होता) है। उनके विभाग में संयम करने से सभी प्राणियों के शब्दों का ज्ञान हो जाता है।

२. पूर्वजन्म का ज्ञान— संस्कार दो प्रकार के होते

हैं। एक तो स्मृति में बीज रूप से रहते हैं और दूसरे वासना रूप में। ये सभी संस्कार इस जन्म के तथा पिछले जन्म के किये हुए कर्मों से बनते हैं, और ग्रामोफोन के प्लेट के रिकार्ड के समान चित्त में चित्रित रहते हैं। इनमें संयम करने से योगी को उनका साक्षात्कार हो जाता है। जिस देश, काल, और निमित्त से ये संस्कार बने हैं, योगी को उनका ज्ञान हो जाता है। इसे ही पूर्व जन्म का ज्ञान होना कहते हैं।

प्रसिद्ध है कि भगवान बुद्ध को बुद्धत्व प्राप्त होने पर अपने ५०० से अधिक जन्मों का ज्ञान प्राप्त हो गया तथा योगिराज जैगीषव्य को दस महाकल्पों में व्यतीत हुए अपने जन्मों की सम्पूर्ण परम्परा का बोध था।

इस सम्बन्ध में योग दर्शन ३/१८ का कथन है—

संस्कार साक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्।

अर्थात् संस्कारों के साक्षात् करने से पूर्व जन्म का ज्ञान होता है।

३. दूसरे के चित्त (हृदय) की बातों को जानना—

जब योगी किसी के चेहरे तथा नेत्र आदि की आकृति देखकर उसके चित्त की वृत्ति में संयम करता है , तो उसको उस चित्त का साक्षात्कार हो जाता है। इस प्रकार उस योगी को यह ज्ञात हो जाता है कि उस व्यक्ति का चित्त राग-द्वेषादि संसार की वासनाओं में डूबा हुआ है अथवा वैराग्य से युक्त है।

योग दर्शन ३/१९ में कहा गया है कि "प्रत्ययस्य परचित्त ज्ञानम्" अर्थात् दूसरे के चित्त की वृत्ति का साक्षात् करने से द्वेषादि के चित्त का ज्ञान हो जाता है।

संयम द्वारा उसी विषय का साक्षात् होता है, जो उसका विषय होता है। किन्तु संयम का विषय वही होता है, जिसको किसी न किसी प्रकार से पहले जान लिया है। बाहरी चिह्नों अर्थात् नेत्र और चेहरे आदि से केवल राग-द्वेषादि जाने जा सकते हैं, न कि राग-द्वेष के विषय। इसलिये वे सालम्बन चित्त के संयम के विषय नहीं बन सकते। यदि राग-द्वेषादि आभ्यन्तर लिंगों (चिह्नों) द्वारा संयम किया जाये, तो उनके विषय का भी ज्ञान हो सकता है।

४. अन्तर्धान (अदृश्य) हो जाना- चक्षु में रूप को ग्रहण करने की शक्ति है तथा रूप में ग्राह्य शक्ति है। इन दोनों शक्तियों के संयोग से ही देखने की प्रक्रिया होती है। इन दोनों में से किसी एक की शक्ति के रुक जाने से देखने का कार्य बन्द हो जाता है। जब योगी संयम द्वारा

अपने शरीर के ग्राह्य शक्ति को रोक देता है, तो चक्षु की ग्रहण शक्ति होते हुए भी दूसरे लोग उसको नहीं देख पाते। यही उस योगी का अन्तर्धान होना अर्थात् छिप जाना है।

कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुः
प्रकाशासम्प्रयोगेऽअन्तर्धानम्। योग दर्शन ३/२१

अर्थात् अपने शरीर के रूप में संयम करने से रूप की ग्राह्य शक्ति रुक जाती है। इससे दूसरों की आँखों के प्रकाश से योगी के शरीर का संयोग न होने से उसका शरीर छिप जाता है। इसी प्रकार शब्द, स्पर्श, रस, और गन्ध में संयम करने पर उनकी ग्राह्य शक्ति रुक जाती है और वे वर्तमान रहते हुए भी इन्द्रियों से ग्रहण नहीं किये जा सकते। इस सम्बन्ध में एक सच्ची घटना इस प्रकार है—

एक बार श्री निगमानन्द सरस्वती जी कोटा के जंगल से गुजर रहे थे। शाम का समय था और वे भूख-प्यास से व्याकुल भी थे। उस समय उन्हें विश्राम के लिये उपयुक्त स्थान नहीं मिल पा रहा था।

अचानक एक स्त्री ने उनका नाम लेकर पुकारा। इसके पहले स्वामी जी ने उस स्त्री को कभी देखा नहीं था। वह स्त्री पास आकर बोली- तुम बहुत अधिक भूखे-प्यासे लग रहे हो। यहाँ से लगभग एक कि.मी. आगे एक कुटिया है। तुम उसी में आज रात विश्राम करो। जब स्वामी श्री निगमानन्द जी आगे चले, तो उन्हें वह कुटिया दिखायी दी। यह कुटिया उसी योगिनी की थी, जो मार्ग में मिली थी। यद्यपि उसकी उम्र ६० वर्ष से अधिक थी, फिर भी यौवनावस्था जैसी दिव्य सुन्दरता दिखायी दे रही थी।

कुछ ही देर में वह सिद्धा (योगिनी) आ पहुँची और स्वामी जी का भोजन आदि से यथोचित सत्कार किया। विश्राम के समय योगिनी ने स्वामी जी से कहा— तुम्हें अब दर-दर भटकने की आवश्यकता नहीं है। तुम सीधे कोलकाता चले जाओ। तुम्हारे गुरुदेव वहीं पर विराजमान मिलेंगे।

यह सुनकर स्वामी जी को बहुत आश्चर्य हुआ कि यह योगिनी कैसे जानती है कि मैं गुरु की खोज में भटक रहा हूँ? स्वामी जी यह भी सोचने लगे कि मेरे पास तो फूटी कौड़ी भी नहीं, मैं कोलकाता कैसे जा सकूँगा?

इसी बीच वह योगिनी बोल पड़ी— तुम पैसों की चिन्ता न करो। उसकी व्यवस्था हो जायेगी।

अगले दिन प्रातःकाल योगिनी ने स्वामी जी को

रेलवे स्टेशन पहुँचा दिया तथा स्टेशन के पास कुछ रुपये स्वामी जी को देकर अदृश्य हो गई। स्वामी जी ने रुपये गिने तो पता चला कि टिकट के अतिरिक्त भी कुछ पैसे बच रहे हैं। स्वामी जी ने योगिनी को देखने के लिये अपनी दृष्टि उठायी, तब तक वो अन्तर्धान हो चुकी थी।

स्वामी निगमानन्द जी दौड़कर उस कुटी के पास गये, किन्तु न तो उन्हें वह कुटी दिखायी पड़ी और न वह सिद्धा। वे निराश होकर लौट आये। पूरे मार्ग में वे विचार करते रहे कि आपत्तिकाल में सहायता करने वाली वह योगिनी कौन थी? किन्तु स्वामी जी अपनी जिज्ञासा का समाधान नहीं कर सके।

निःसन्देह यह सब योगिनी की अन्तर्धान सिद्धि थी, जिससे स्वामी जी कुछ भी नहीं देख सके।

५. बल प्राप्त करना – योगी, जिसके भी बल में संयम करता है, उसका बल उसे प्राप्त हो जाता है। जैसे यदि वह हाथी या सिंह के बल में संयम करता है, तो उसे हाथी या सिंह का बल प्राप्त हो जाता है। यदि वह पवन के बल में संयम करता है, तो उसे वायु के समान शक्ति प्राप्त हो जाती है। यदि वह मैत्री, करुणा, तथा मुदिता में संयम करता है, तो क्रमशः वह सभी प्राणियों का सुखकारी मित्र बन जाता है, उसमें सबके दुःखों को दूर करने की शक्ति आ जाती है, तथा वह पूर्ण रूप से निष्पक्ष बन जाता है।

इस कथन से यही निष्कर्ष निकलता है कि नर – नारायण, राम, हनुमान, अंगद, परशुराम आदि महापुरुषों में जो शक्ति दिखायी देती है, वह शरीर की अपेक्षा योग-बल पर अधिक आश्रित थी।

इस कथन की पुष्टि में ये कथन द्रष्टव्य हैं—

मैत्र्यादिषु बलानि।

योगदर्शन ३/२३

बलेषु हस्ति बलादीनि।

योगदर्शन ३/२४

अर्थात् मैत्री आदि में संयम करने पर मैत्री आदि बल प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार हाथी आदि के बलों में संयम करने पर हाथी आदि के बल प्राप्त होते हैं।

६. अदृश्य वस्तुओं को देखना— हृदय कमल से होती हुई जो सुषुम्ना नाड़ी दशम् द्वार तक गयी है, उसे ब्रह्मनाड़ी भी कहते हैं। हृदय में ही चित्त का निवास है। जब योगी उसमें बुद्धि विषयक संयम करता है , तो सात्त्विक ज्योति स्वरूप भासता हुआ वह चित्त कभी सूर्य, कभी चन्द्र, कभी नक्षत्र, और कभी मणि की प्रभा के समान दृष्टिगोचर होता है। पुनः उस बुद्धि सत्त्व का

साक्षात्कार हो जाता है। यह ज्योति स्वरूप बुद्धि सत्त्व का साक्षात्कार "ज्योतिष्मती प्रवृत्ति पद" कहलाता है। सत्त्व गुण प्रधान होने से यह वृत्ति रजोगुण एवं तमोगुण से रहित है, इसलिये यह "विशोका" कहलाती है।

प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्।

योग दर्शन ३/२५

जब मन की शोक रहित ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के प्रकाश को योगी संयम द्वारा किसी सूक्ष्म (इन्द्रियातीत) जैसे अदृश्य परमाणु, ढके हुए जैसे भूमि के अन्दर दबी हुई खानों, दीवार की ओट में छिपी हुई वस्तुओं, शरीर के अन्दर के भागों, तथा अति दूर की वस्तुओं पर डालता है, तब उनका प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है।

७. लोक-लोकान्तरों का ज्ञान – सुषुम्ना नाड़ी

(सूर्य द्वार) में संयम करने पर लोक-लोकान्तरों का ज्ञान होता है।

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्।

योग दर्शन ३/२६

ध्यान की सूक्ष्म अवस्था में सुषुम्ना में संयम करने पर स्वः, महः, जनः, सत्य लोक आदि का भी ज्ञान हो जाता है। कुण्डलिनी के जाग्रत होने पर सुषुम्ना नाड़ी में जब सभी प्राण प्रविष्ट हो जाते हैं, तब इस प्रकार के अनुभव होते हैं। उस समय संयम की भी आवश्यकता नहीं पड़ती, बल्कि जिधर वृत्ति जाती है अथवा जिसका पहले से ही संकल्प कर लिया जाता है, उसी का अनुभव होने लगता है।

८. तारामण्डल का ज्ञान- चन्द्रमा में संयम द्वारा योगी को तारामण्डल का विधिवत् ज्ञान हो जाता है।

चन्द्रेताराव्यूहज्ञानम्।

योग दर्शन ३/२७

९. सम्पूर्ण शरीर का बोध – नाभि चक्र में संयम करने पर सम्पूर्ण शरीर की रचना ज्ञात हो जाती है।

नाभि चक्रे कायव्यूह ज्ञानम्।

योग दर्शन ३/२९

१०. भूख-प्यास को जीतना – "योगी की आत्मकथा" नामक ग्रन्थ में लाहिड़ी महाशय के प्रशिष्य श्री योगानन्द जी ने जिस योगिनी का वर्णन किया है, वह लगभग ५० से अधिक वर्षों तक किसी भी प्रकार के भोजन (जल, दूध, अन्न, फल आदि) से पूर्णतया अलग रहीं, किन्तु उनके स्वास्थ्य में किसी प्रकार की गिरावट नहीं देखी गयी। गिरिबाला नामक यह योगिनी बंगाल प्रान्त में बांकुरा जिले के बिऊर गाँव की निवासिनी थी। गिरिबाला जी का विवाह मात्र ९ वर्ष की उम्र में हो गया

था और वह १२ वर्ष की अवस्था में अपनी ससुराल नवाबगंज पहुँच गयी। अत्यधिक खाने की बुरी आदत के कारण अपनी सास द्वारा अपमानित होने पर उन्होंने प्रण कर लिया कि वे जीवन में कभी भी भोजन (अन्न, जल, दूध) ग्रहण नहीं करेंगी।

एक दिन प्रातः जब वे गंगा के किनारे गयी हुई थीं, उनके सिद्ध गुरुदेव ने दर्शन देकर योग की ऐसी क्रिया सिखा दी, जिसके कारण उन्हें ५० वर्षों के जीवन में कभी भूख नहीं लगी।

ऐसा कथन पूर्णतः सत्य है और योग दर्शन ३/३० में कहा गया है कि "कण्ठकूपे क्षुत्पिपासा निवृत्तिः" अर्थात् जिह्वा के नीचे सूत के समान एक नस है। उसके नीचे कण्ठ है। उस कण्ठ के नीचे जो गड्ढा है, उसे कण्ठकूप कहते हैं। उस स्थान में प्राण आदि का स्पर्श

होने से भूख-प्यास लगती है। इसलिये इस कण्ठकूप में संयम द्वारा प्राण आदि का स्पर्श न होने से योगी को भूख-प्यास नहीं लगती।

११. स्थिरता की सिद्धि- कण्ठ कूप के नीचे छाती में कछुए के आकार की एक नाड़ी होती है, जिसे कूर्म नाड़ी कहते हैं। उसमें संयम करने पर स्थिरता की प्राप्ति होती है। सर्प और गोह में यह सिद्धि जन्मजात होती है। यदि सर्प किसी बिल में अपने आधे शरीर से घुस जाये, तो उसकी पूँछ पकड़कर कितने भी बल से क्यों न खींचा जाय, वह खिंचता नहीं है, भले ही टूट जाये। इसी प्रकार गोह जब किसी छत या मुंडेर पर अपने पैर जमा लेती है, तो हटती नहीं है। चोर लोग इसी के सहारे रस्सी बाँधकर छतों पर चढ़ जाते हैं। बालिपुत्र अंगद में भी यही सिद्धि थी, जिसके कारण रावण के दरबार में कोई भी उनका

पैर हिला तक नहीं सका था।

इस सम्बन्ध में योग दर्शन ३ / ३१ का कथन है—
"कूर्मनाड्या स्थैर्यम्" अर्थात् कूर्म नाड़ी में संयम करने पर स्थिरता की सिद्धि होती है।

१२. सर्वज्ञ होना— सुषुम्ना प्रवाहित होने पर योगी के अन्दर प्रातिभ ज्ञान प्रकट होता है, जिससे वह सब कुछ जानने लगता है। "प्रतिभाद्वा सर्वम्" (योग दर्शन ३ / ३३) अर्थात् प्रातिभ ज्ञान से सब कुछ जाना जाता है। यह वह ज्ञान है, जिसके प्रकट होने पर योगी बिना संयम के ही सब कुछ वैसे ही जान लेते हैं, जैसे— सूर्य की प्रभा फैलने पर सब कुछ देखा (जाना) जा सकता है।

१३. हृदय की बात जानना— शरीर में हृदय

(स्थूल) का विशेष स्थान है। उसमें चित्त (अन्तःकरण) का स्थान है। उसमें संयम करने पर योगी अपने चित्त में प्रविष्ट सभी वासनाओं तथा दूसरे के चित्त की सभी बातों को जान लेता है। "हृदये चित्तसंवित्" (योग दर्शन ३/३४) का कथन यही भाव दर्शाता है। स्थूल हृदय वह माँस पिण्ड है, जिसमें रक्त का आवागमन होता है। अन्तःकरण (चित्त, मन, बुद्धि, अहंकार) को भी हृदय कहा जाता है, किन्तु वह कारण शरीर माना जाता है।

१४. दिव्य सिद्धियों की प्राप्ति – पुरुष ज्ञान से निम्नलिखित दिव्य सिद्धियाँ उत्पन्न होती हैं—

प्रातिभ— मन में सूक्ष्म, छिपी हुई, दूरस्थ, अतीत, और अनागत वस्तुओं को जानने की योग्यता।

श्रावण— श्रोत्रेन्द्रिय की दिव्य और दूर के शब्दों को

सुनने की योग्यता।

वेदना- त्वचा इन्द्रिय की दिव्य स्पर्श को जानने की योग्यता।

आदर्श- नेत्रेन्द्रिय की दिव्य रूप को देखने की योग्यता।

आस्वाद- रसनेन्द्रिय का दिव्य रस को जानने का सामर्थ्य।

वार्ता- नासिका द्वारा दिव्य गन्ध सूँघने की योग्यता। इस सम्बन्ध में योग दर्शन ३ / ३६ का सूत्र है-

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादशस्वादवार्ता जायन्ते।

१५. परकाया प्रवेश- किसी मरे हुए शरीर में अपने सूक्ष्म शरीर सहित प्रविष्ट होकर उसे जीवित करना, परकाया प्रवेश कहलाता है। योग दर्शन ३ / ३८ में इसका

वर्णन इस प्रकार किया गया है—

वन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य
परशरीरावेशः।

अर्थात् जब योगी को शरीर से निष्क्रमण और प्रवेशन करने के मार्ग का पूर्णतया ज्ञान हो जाता है, तब अपने स्थूल शरीर से चित्त को (लिंग शरीर) निष्क्रमण करके उसे दूसरे के मृतक या जीवित शरीर में डाल देता है, तो उसे परकाया प्रवेश कहते हैं।

दूसरे के शरीर में प्रविष्ट होने पर चित्त के पीछे अन्य सभी इन्द्रियाँ भी वैसे ही चली जाती हैं, जैसे रानी मक्खी के पीछे अन्य मक्खियाँ। दूसरे के शरीर में प्रवेश किया हुआ योगी अपने शरीर की तरह ही उस शरीर में व्यवहार करता है।

इस सिद्धि का उदाहरण आदि शंकराचार्य जी का है, जिसमें उन्होंने कामशास्त्र सीखने के लिये अमरूक राजा के शरीर में प्रवेश किया था, ताकि मण्डन मिश्र की पत्नी उभय भारती के कामशास्त्र सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर दे सकें।

कुछ समय तक राजा के शरीर में रहकर शंकराचार्य जी ने कामशास्त्र सीख लिया तथा अपने पूर्व शरीर में वापस आ गये। इस बीच में उनके शिष्यगण उनके पूर्व शरीर की रक्षा बहुत सावधानी के साथ करते रहे।

१६. जल आदि पर चलना- अनेक साधु-सन्तों द्वारा जल के ऊपर चलने की बातें सुनी जाती हैं। यह और कुछ नहीं, उदान वायु पर विजय का फल है। योग दर्शन ३/३९ में कहा गया है-

उदानजयाञ्जलपङ्कण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च।

अर्थात् संयम द्वारा उदान वायु को जीतने से जल, कीचड़, काँटों आदि में भी जीव असग रहता है और उसकी ऊर्ध्व गति होती है।

शरीर की सभी इन्द्रियों में दृष्टिगोचर होने वाले जीवन का आधार प्राणवायु है। इसके पाँच भेद होते हैं—

प्राण— यह पाँचों प्राणों में प्रथम है। मुख तथा नासिका के माध्यम से गति करता है। इसका कार्य नासिका के अग्रभाग से लेकर हृदय तक है।

अपान— नीचे की ओर गति करने वाला है। मल, मूत्र, गर्भ आदि को नीचे की ओर ले जाने में कारण बनता है। यह नाभि से लेकर पैर तक स्थित है।

समान— यह हृदय से लेकर नाभि तक स्थित है।

भोजन के रस को सम्पूर्ण शरीर में अपने-अपने स्थान पर समान रूप से पहुँचाता है।

व्यान- सम्पूर्ण शरीर में व्यापक होकर गति करता है।

उदान- ऊपर की गति का कारण है। इसकी क्रिया कण्ठ से लेकर शिर तक है। इसके द्वारा शरीर के व्यष्टि प्राण का समष्टि प्राण के साथ सम्बन्ध है। मृत्यु के समय सूक्ष्म शरीर इसी उदान वायु द्वारा स्थूल शरीर से बाहर निकलता है।

जब योगी संयम द्वारा उदान वायु को जीत लेता है, तो उसका शरीर रुई की तरह हल्का हो जाता है। जब वह पानी पर पैर रखता है, तो उसमें डूबता नहीं है। कीचड़ या काँटों में भी वह फँसता नहीं है, क्योंकि वह

अपने शरीर को हल्का करके ऊपर की ओर उठाये रहता है।

१७. आकाश गमन की सिद्धि- इस सिद्धि को प्राप्त करने के पश्चात् पक्षी की तरह आकाश में उड़ा जा सकता है। योगदर्शन ३/४२ में कहा गया है-

कायाकाशयोः

सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्।

अर्थात् शरीर और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से और रुई आदि हल्के पदार्थों में समापत्ति (तदाकार) होने से आकाश गमन की सिद्धि प्राप्ति होती है।

जहाँ पर शरीर है, वहीं उसको अवकाश देने वाला आकाश भी है। इस प्रकार, इन दोनों में आधेय-आधार

तथा व्याव्य-व्यापक भाव का सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध में संयम करने से या रुई के समान हल्की वस्तुओं में ध्यान द्वारा तदाकार होने से योगी का शरीर बहुत हल्का हो जाता है। इसलिये वह जल पर पाँव रखकर भी चल सकता है। इसके अतिरिक्त उसमें मकड़ी के जाले सदृश सूक्ष्म तारों पर भी चलने का सामर्थ्य आ जाता है। अन्त में, शरीर के अति सूक्ष्म हो जाने से आकाश गमन की भी सिद्धि हो जाती है।

आदि शंकराचार्य जी के सम्बन्ध में यह बात प्रसिद्ध है कि ध्यान द्वारा अपनी माता के देहान्त का समाचार पाकर वे आकाश मार्ग से अति शीघ्र ही पहुँच गये थे, क्योंकि उन्होंने सन्यास से पूर्व अपनी माँ को वचन दिया था कि उनका अन्तिम संस्कार वे स्वयं करेंगे।

महाभारत के शान्ति पर्व में शुकदेव जी के भी

आकाश गमन की बात वर्णित है—

शुकस्तु मारुतादूर्ध्वगतिं कृत्वान्तरिक्षगाम्।

दर्शयित्वा प्रभावं स्वं ब्रह्मभूतोऽभवत्तदा॥

शुकदेव जी वायु के वेग से आकाश में विचरण करने लगे और ऐसा करके उन्होंने अपना योगबल प्रकट किया। इसके पश्चात् वे ब्रह्मभाव को प्राप्त हो गये।

एक बार राजस्थान प्रान्त के भरतपुर जिले में आर्य समाज का धार्मिक समारोह चल रहा था। उस कार्यक्रम में एक विद्वान ने योग दर्शन के विभूतिपाद को मिथ्या कह दिया। परिणाम स्वरूप, आर्यसमाज के विद्वानों में ही आपस में शास्त्रार्थ प्रारम्भ हो गया। निदान, जब तकों से निर्णय नहीं हो सका, तब विभूतिपाद के विरोधी विद्वान ने यह घोषित कर दिया कि यदि आप लोग विभूतिपाद

को सत्य सिद्ध नहीं कर पायेंगे , तो मैं कल आग के हवाले कर दूँगा।

यह सुनकर विद्वत मण्डल में सन्नाटा छा गया , किन्तु एक विद्वान ने विभूतिपाद को सत्य सिद्ध करने का उत्तरदायित्व लिया। प्रातःकाल उस विरोधी विद्वान को लेकर वह भरतपुर के पास एक जंगल में कुटिया के अन्दर गया, जिसमें एक महान योगी रहा करते थे।

उस योगी के समक्ष भी उस विद्वान ने योग दर्शन के विभूतिपाद को मिथ्या कहा तथा उसे आग में जला देने की बात दुहरायी। योगी ने निवेदन किया कि पतञ्जलि हमारे आचार्य हैं। लाखों वर्षों से सभी योगी योग शास्त्र का सम्मान करते आये हैं और आप जलाने की बात कर रहे हैं। कल आप दोनों सूर्योदय के समय आइएगा।

मैं आप दोनों को विभूतिपाद की कोई आश्चर्यजनक सिद्धि दिखाऊँगा। प्रातःकाल जब दोनों विद्वान (वादी-प्रतिवादी) उस योगी की कुटिया के पास पहुँचे, तो उन्होंने उस योगी को आकाश में ऊपर उठते हुए देखा। वह योगी आकाश में ऐसे उठ रहा था जैसे किसी सीढ़ी पर पैर रख-रखकर चढ़ रहा हो। दोनों विद्वान यह दृश्य देखकर हतप्रभ थे। थोड़ी ही देर में वह महान योगी आकाश में बहुत ऊँचाई पर जाकर अदृश्य हो गया। इस घटना के पश्चात् विभूतिपाद के विरोधी विद्वान ने अपनी भूल मान ली।

१८. पंचभूतों पर विजय – श्वेताश्वतर उपनिषद २/१२ में कहा गया है—

पृथ्व्योप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पंचात्मके योग गुणे प्रवृन्ते।

न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्रिमयं शरीरं॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, और आकाश के योग गुणों का अनुभव होने पर अर्थात् भूतजय होने पर जिस योगी को योगाग्रिमय शरीर प्राप्त हो जाता है, उसे न तो कोई रोग होता है, न वृद्धावस्था होती है, और न उसकी अकाल मृत्यु होती है। उसका शरीर चिरकाल तक अस्तित्व में रहता है। इस सम्बन्ध में योग दर्शन ३ / ४४ का कथन है—

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः।

अर्थात् पाँचों भूतों (तत्त्वों) के स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय, और अर्थवत्त्व में संयम करने से भूतों का जय होता है। पाँच भूतों के पाँचों रूपों में जिस – जिस

रूप में योगी संयम करता है, उस-उस रूप का योगी को साक्षात्कार होता है। स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म आदि रूपों के क्रम से पाँचों भूतों के पाँचों रूपों में संयम करने से योगी को पाँचों भूतों का प्रत्यक्षीकरण और वशीकरण हो जाता है। ऐसे योगी को भूतजयी योगी कहते हैं। सब भूतों की प्रकृतियाँ उसके संकल्पानुसार हो जाती हैं, अर्थात् भूतों का स्वभाव उसके संकल्प के अनुसार हो जाता है।

भूतजय की कई सिद्धियाँ परमहंस विशुद्धानन्द जी के पास थीं। वे काशी में निवास करते थे। उनके शरीर से हमेशा सुगन्धि निकला करती थी, जिसके कारण वे गन्ध बाबा के नाम से भी प्रसिद्ध थे। गोपीनाथ कविराज उन्हीं के शिष्य थे। परमहंस विशुद्धानन्द जी सूर्य विज्ञान की सहायता से कोई भी वस्तु उत्पन्न करके दिखा सकते थे। एक बार उन्होंने मेज पर रखी हुई माला को गुलाब की

माला के रूप में परिवर्तित कर दिया था। यहाँ तक कि उन्होंने रुई के टुकड़े को ग्रेनाइट के लाल पत्थर के रूप में बदल दिया तथा एक फूल की प्रत्येक पँखुड़ी को नये-नये फूल के रूप में रूपान्तरित कर दिया।

१९. आठ विलक्षण सिद्धियाँ- इन अष्ट सिद्धियों के विषय में योग दर्शन ३ / ४५ में कहा गया है-

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पन्तद्धर्मानभिघातश्च।

अर्थात् पंचभूतों पर विजय प्राप्त होने से अणिमा आदि आठ सिद्धियों एवं कायसम्पत् की प्राप्ति होती है। इसके अतिरिक्त उन पाँचों भूतों के धर्मों से रुकावट भी नहीं होती। ये आठ सिद्धियाँ इस प्रकार हैं-

अणिमा- शरीर का आकार बहुत छोटा कर लेना अणिमा सिद्धि है।

लघिमा- रुई के समान अत्यन्त हल्का बन जाना।
आकाशगमन आदि सिद्धि इसी के द्वारा होती है।

महिमा- शरीर को बहुत बड़ा कर लेना। सीता जी की खोज में हनुमान जी ने इन्हीं तीनों सिद्धियों को उपयोग किया था।

गरिमा- बहुत अधिक भारी बन जाना। गन्धमादन पर्वत पर हनुमान जी ने अपने शरीर को इतना भारी कर लिया कि भीम जी को नतमस्तक होना पड़ा।

प्राप्ति- इच्छामात्र से दूरस्थ वस्तुओं को भी तत्काल प्राप्त कर लेना।

प्राकाम्य- बिना किसी बाधा के इच्छा का पूर्ण हो जाना।

ईशित्व- हजारों-लाखों प्राणियों पर अपना प्रभाव

डालकर शासन करने की शक्ति ईशित्व है।

वशित्व- सर्प, बिच्छू, सिंह, व्याघ्र आदि घातक प्राणियों को वश में करने की सिद्धि को वशित्व सिद्धि कहते हैं। इसी सिद्धि के कारण ऋषि-मुनि वनों में निर्द्वन्द्व होकर विचरण किया करते थे।

२०. मृतक को जीवित करना- यद्यपि यह कार्य प्रकृति के नियम के विपरीत है, किन्तु अत्यधिक योगबल से सम्पन्न परमहंस या योगिराज ऐसी स्थिति पैदा कर देते हैं, जिसमें मृतक जीवित हो उठता है। इसमें अपने योगबल द्वारा मरे हुए जीव को पुनः उस शरीर में प्रवेश कराना होता है। प्रसिद्धि है कि परमहंस महाराज श्री राम रतन दास जी ने मरे हुए को जीवित किया था। एक माँ का पुत्र मृत्यु को प्राप्त हो गया था। संयोगवश परमहंस महाराज श्री राम रतन दास जी उधर भ्रमण करते हुए आ

निकले। उस माँ ने इतनी दीन भरी प्रार्थना की कि महाराज जी का हृदय द्रवित हो गया और उन्होंने यह आशीर्वाद दे दिया कि कल प्रातःकाल होने से पहले बालक का दाह संस्कार न करना। वह माँ प्रातःकाल तक प्रतीक्षा करती रही। जैसे ही पूर्व दिशा में सूर्य की लालिमा फैली, वैसे ही बालक ने भी अपनी आँखें खोल दीं।

ऐसी ही एक घटना लाहिड़ी महाशय के जीवन की है— जब उन्होंने अपने शिष्य युक्तेश्वर जी के अभिन्न मित्र राम को मरने के एक दिन बाद जीवित किया था। राम भी उनका शिष्य था और हैजे का शिकार होकर मृत्यु को प्राप्त हो गया था। उसके मरने पर युक्तेश्वर जी बहुत दुःखी हो गये और उन्होंने उसे जीवन-दान का आग्रह किया। योगिराज लाहिड़ी महाशय ने अपने योगबल से उसे पुनः

जीवित किया। उनके गुरु महाअवतार बाबा ऐसी लीलायें किया करते थे।

२१. एक साथ कई रूप धारण करना— विश्वरूप की भावना के साथ समाधिस्थ होकर अपने संकल्प बल से योगी एकसाथ अनेक रूप धारण कर लेता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण महाभारत की वह घटना है, जिसमें शान्तिदूत के रूप में गये हुए योगेश्वर श्री कृष्ण को जब दुर्योधन कैद करना चाहता है, तो उसे चारों ओर कृष्ण ही कृष्ण दिखायी देने लगते हैं। अन्त में वह अपने दुष्कृत्य पर लज्जित होता है। परमहंस महाराज श्री राम रतन दास जी, लाहिड़ी महाशय, तथा स्वामी प्रणवानन्द जी भी एक ही समय कई जगहों पर दिखायी देते थे। यह उनके द्वारा कई शरीर धारण करने पर ही सम्भव था।

महान योगी श्री श्यामाचरण लाहिड़ी जी जिस

कार्यालय में नौकरी करते थे, उस कार्यालय का प्रमुख अधिकारी एक अंग्रेज था। उसकी पत्नी लन्दन में रह रही थी और बहुत अधिक बीमार थी। अपने अधिकारी को उदास देखकर लाहिड़ी महाशय ने जब पूछा, तो उसने अपनी पत्नी की बीमारी की बात बता दी। इसके पश्चात् लाहिड़ी जी अपने कमरे में ध्यानस्थ हो गये। कुछ देर के पश्चात् ध्यान से उठकर उन्होंने अपने अंग्रेज अधिकारी को बताया कि आपकी पत्नी ठीक हो गयी हैं। वे आपको पत्र लिखेंगी तथा कुछ दिनों के पश्चात् आपसे मिलने के लिए भारत भी आने वाली हैं। अंग्रेज अधिकारी ने उस समय यह बात तो सुन ली, किन्तु उन्हें विश्वास नहीं हुआ। कुछ दिनों के पश्चात् जब उन्हें अपनी पत्नी द्वारा लिखा हुआ पत्र मिला, जिसमें उसने अपने स्वस्थ होने तथा भारत आने की बात लिखी थी, तो वे आश्चर्य

में पड़ गये। भारत आने पर जब उस अंग्रेज महिला ने लाहिड़ी महाशय को देखा, तो तुरन्त पहचान गयी तथा श्रद्धापूर्वक उनका अभिवादन किया। उसने अपने पति को बताया कि इन्हीं महात्मा की कृपा से मैं जीवित हो सकी हूँ। ये ही मेरी शय्या के निकट आकर आशीर्वाद दिये थे। यह सुनकर उस अंग्रेज अधिकारी के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा और वह श्री लाहिड़ी महाशय का बहुत अधिक सम्मान करने लगा। यह एक ही साथ दो शरीर धारण करने की सिद्धि के कारण सम्भव हो सका।

इस सृष्टि में असंख्य ग्रह-नक्षत्र निरन्तर क्रियाशील हैं। हमारे सूर्य से लाखों गुना बड़े अनन्त सूर्य इस जगत में प्रकाशमान हो रहे हैं। सागरों की अथाह जलराशि में अनगिनत लहरें पल-पल क्रीड़ा कर रही हैं। असंख्य प्राणियों, वनस्पतियों, एवं प्राकृतिक सुषमा से भरपूर है

यह विराट। इस सम्पूर्ण जगत को नियन्त्रित करने वाला वह ब्रह्म अनन्त ज्ञान, प्रेम, सत्ता, और आनन्द का मूल है।

यदि हम आत्मिक दृष्टि से देखें, तो लगता है कि हम भी तो उसी परब्रह्म रूपी सागर की लहरे हैं और उससे अभिन्न हैं। किन्तु जब हम लौकिक दृष्टि से देखते हैं, तो ऐसा लगता है कि जैसे हम परब्रह्म के अनन्त ज्ञान, तेज, एवं शक्ति के समक्ष नगण्य हैं।

ऐसी अवस्था में यदि हम सिद्धियाँ प्राप्त करके आकाश में उड़ने लगे, मरे हुए लोगों को जीवित करने लगे, तथा एकसाथ कई रूप धारण कर अपनी पूजा कराने लगे, तो यह निश्चित है कि हम कहीं न कहीं अपने अहम् में उत्तरोत्तर वृद्धि कर रहे हैं और उस सर्वशक्तिमान सत्ता को चुनौती दे रहे हैं।

यथार्थतः, यह मार्ग आत्म-हनन का है और मूर्खता भरा है, पर इसका एक दूसरा पक्ष भी है। जिस प्रकार विष का उचित प्रयोग औषधि के रूप में अमृत तुल्य कार्य करता है, उसी प्रकार सिद्धियों की भी कहीं न कहीं आवश्यकता पड़ ही जाती है। जैसे- कौरवों की सभा में श्री कृष्ण जी द्वारा अनेक रूपों में दर्शन देना। देवदत्त द्वारा भेजे गये भयानक हाथी को भगवान बुद्ध द्वारा मैत्रीबल से वश में करना, बुद्ध जी को वाणों से मारने का प्रयास करने वाले धनुर्धरों का उनके आत्मा के तेज से प्रभावित होकर नतमस्तक हो जाना, अंगुलिमाल को सम्मोहित करना, आदि योगैश्वर्य से ही सम्भव था। इसी प्रकार यदि श्री कृष्ण जी अपने योगबल का प्रयोग नहीं करते, तो न तो द्रौपदी की लाज बच सकती थी और न पापी जयद्रथ का ही वध हो सकता था।

यदि अटूट निष्ठा के साथ परब्रह्म की ध्यान-साधना में लगा रहा जाये, तो ये सिद्धियाँ तो पीछे-पीछे स्वतः चला करती हैं। किन्तु परमात्मा के प्रेम को झुठलाकर मात्र इनके पीछे जब भागा जाता है, तो ये सिद्धियाँ उस वेश्या की तरह व्यवहार करती हैं जो धन के न होने पर अपने बनावटी प्रेमी को धक्का मार देती हैं। पूर्वोक्त महापुरुषों द्वारा अपने योगबल से चमत्कार दिखाना अनुचित नहीं था क्योंकि ये पहले ही परम तत्त्व को जान चुके थे।

योगैश्वर्य और विभूति में अन्तर होता है। आत्म - साक्षात्कार या ब्रह्म-साक्षात्कार करने वाला व्यक्ति अपने संकल्प बल से अनेक प्रकार के चमत्कार दिखा सकता है, किन्तु वह इनको हेय दृष्टि से देखता है क्योंकि उसकी दृष्टि में परमात्मा के प्रति सर्वस्व समर्पण तथा प्रेम

से बढ़कर और कोई वस्तु होती ही नहीं है।

किन्तु ईश्वर प्रणिधान (परमात्मा के प्रति पूर्ण समर्पण) के अभाव में जब सिद्धियों के प्रति आकर्षण बढ़ जाता है, तो समाधि का मार्ग बन्द हो जाता है। इससे बड़ी आत्मिक क्षति और कुछ भी नहीं हो सकती। योग दर्शन ३ / ३७ में स्पष्ट रूप से कहा गया है—

ते समाधायुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।

अर्थात् सिद्धियाँ ब्रह्म का साक्षात्कार कराने वाली समाधि में विघ्न हैं।

इसलिये सच्चे ज्ञानीजन इन सिद्धियों को हेय (घृणा) दृष्टि से देखते हैं। साधना-काल में जब ये सिद्धियाँ अनायास ही प्राप्त हो जाती हैं, तो उनके प्रति उपेक्षा भाव रखते हैं, क्योंकि उनके हृदय का सर्वस्व प्रेम केवल

प्रियतम परब्रह्म के लिये ही होता है। उनकी दृष्टि में संसार का मान-सम्मान विष की तरह होता है, इसलिये वे सिद्धि-प्रदर्शन करके संसार में यश की स्वप्न में भी कामना नहीं करते।

इन सिद्धियों के प्रति आकर्षण तो मात्र सामान्य स्तर के साधकों या ज्ञानियों को ही होता है। यही कारण है कि प्रत्येक आत्मज्ञानी या ब्रह्मज्ञानी इन सिद्धियों के प्रदर्शन को मदारी के खेल की तरह ही तमाशा मानता है। भगवान बुद्ध ने भी अपने शिष्यों को सिद्धि-प्रदर्शन न करने की चेतावनी दी थी।

श्रीमुखवाणी में स्पष्ट रूप से कहा गया है—

साधो केहेर कही करामात, ए दुनियां तित रांचे।

किरंतन २०/३

अर्थात् चमत्कार दिखाना बहुत बुरी बात है। संसार माया से बना है, इसलिये सांसारिक लोगों को चमत्कारों में ही आस्था होती है।

आगम भाखो मन की परखो, सूझे चौदे भवन।

मृतक को जीवित करो, पर घर की न होवे गम॥

किरंतन १४/१०

भले ही आप भविष्य की सारी बातों को जानते हैं, दूसरों के मन के भावों को पूर्णतया समझ लेते हैं, तथा समाधि में डूबकर चौदह लोक के इस ब्रह्माण्ड की सम्पूर्ण जानकारी भी रखते हैं, साथ ही आप अपने योगबल से मरे हुए को भी जीवित करने का सामर्थ्य रखते हैं, तो भी इस बात का ध्यान रखिए कि बिना तारतम ज्ञान के आपको अपने स्वरूप तथा निज घर की पहचान नहीं हो

सकती।

विभूतियों के गहन चिन्तन से एक बात स्पष्ट होती है कि यदि धारणा में परब्रह्म के स्वरूप के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु को लिया जाये और कितनी भी कठोर साधना क्यों न की जाये, तो परब्रह्म का साक्षात्कार कदापि नहीं हो सकता।

तेरी गिनती बांधी स्वांसों स्वांस, तिनको भी नहीं विश्वास।
केते रहे बाकी तेरे स्वांस, एक स्वांस को भी नहीं आस॥

प्रकास हि. २१/१३

हमारी उम्र का पल-पल बीता जा रहा है। बीता हुआ समय हमें पुनः मिलने वाला नहीं है। ऐसी अवस्था में हमारा यह नैतिक कर्त्तव्य होता है कि मान-प्रतिष्ठा को ठुकराकर केवल प्रियतम के स्वरूप में ही ध्यान लगायें।

इसी में हमारे जीवन का चरम लक्ष्य छिपा हुआ है।

इस सम्बन्ध में तारतम वाणी डिण्डिम घोष के साथ कहती है—

मार प्रतिष्ठा पैजारो, जो आए दगा देत बीच ध्यान।

किरंतन १०३/२

॥ इसके साथ ही तृतीय तरंग पूर्ण हुई ॥



चतुर्थ तरंग

साधना-निर्देशन

साध्य (ध्येय) को पाने के लिये जो भी प्रक्रिया अपनायी जाती है, उसे साधना कहते हैं। यद्यपि साधना शब्द को क्षेत्र विशेष से नहीं बाँधा जा सकता, किन्तु यहाँ जिस साधना का प्रसंग है वह आत्मिक साधना है, जिसमें प्रियतम अक्षरातीत को अपने आत्म-चक्षुओं से देखने के लिये चितवनि (ध्यान) की साधना की जाती है।

चितवनि की साधना निराकारवादियों की शुष्कमयी ध्यान-साधना नहीं है, बल्कि इसमें अनन्य प्रेम की वह राह अपनायी जाती है, जिसमें लौकिक कामनाओं का परित्याग कर स्वयं को न्योछावर कर दिया जाता है।

पाँच यम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह) एवं पाँच नियम (शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान) अध्यात्म साधना की नींव हैं। इनका पालन न करने वाला कभी भी ध्यान एवं समाधि के लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता। संक्षेप में इनका विवरण इस प्रकार है—

१. अहिंसा— शरीर, वाणी, तथा मन से किसी को भी शारीरिक या मानसिक पीड़ा देना हिंसा है। किसी भी प्राणी के शारीरिक अंगों को क्षत-विक्षत करना या प्राणरहित कर देना महापाप है और यह शारीरिक हिंसा है।

कटु और मर्मभेदी वचनों से किसी को पीड़ित करना वाचिक हिंसा है। अपने मन में किसी भी प्रकार की (शारीरिक या मानसिक) हिंसा का भाव लेना मानसिक

हिंसा कही जाती है।

हिंसा करने वाला स्वभावतः क्रूर होता है। वह ध्यान-समाधि एवं आत्म-साक्षात्कार का अधिकारी नहीं बन सकता।

यहाँ एक संशय होता है कि योगेश्वर श्रीकृष्ण, भगवान शिव, भगवान विष्णु, मर्यादा पुरुषोत्तम राम आदि ने भी लाखों राक्षसों का वध किया था, तो क्या ये हिंसक नहीं थे? इन्हें योगेश्वर क्यों कहा जाता है?

इसके समाधान में यही कहा जा सकता है कि ये सभी महापुरुष अहिंसक और योगी इसलिये कहे गये हैं क्योंकि इनके द्वारा की गयी हिंसा अहिंसा की रक्षा के लिये थी। इनके मन में किसी भी प्रकार का लोभ या द्वेष नहीं था। मानवता की रक्षा के लिये ही इन्होंने शस्त्र

उठाया। यदि ये राक्षसों का वध नहीं करते , तो मानव मात्र का जीवन संकट में पड़ जाता। देखिए वाल्मीकि रामायण के अरण्य काण्ड ६/१६, १९ के प्रसंग में कहा है—

एहि पश्य शरीराणि मुनीनां भावितात्मनाम्।

हतानां राक्षसैर्घोरेर्बहूनां बहुधा वने॥

ततस्त्वां शरणार्थं च शरण्यं समुपस्थिताः।

परिपालय नो राम वध्यमानान् निशाचरैः॥

अर्थात् हे राम! देखिए, भयंकर राक्षसों द्वारा अनेक प्रकार से मारे गये बहुसंख्यक मुनियों के कंकाल दिखाई दे रहे हैं। इसलिये हम आपकी शरण में आये हैं कि आप इन राक्षसों से हमारी रक्षा कीजिए।

इसी प्रकार, भगवान श्री कृष्ण ने कंस, भौमासुर,

शिशुपाल आदि मानवद्राही राक्षसों का वध किया। भीम द्वारा उन्होंने उस जरासन्ध को मरवाया, जिसने १०००० राजाओं को बलि देने के लिये अपने कारागार में डाल रखा था। यदि श्री कृष्ण जी ने जरासन्ध को मृत्युदण्ड नहीं दिया होता, तो १०००० राजाओं की मृत्यु निश्चित थी।

इस प्रकार श्री कृष्ण जी ने एक जरासन्ध को मरवाकर १०००० लोगों के प्राण बचाये। इसलिये उनके इस महान कार्य को हिंसा नहीं, बल्कि अहिंसामूलक कहेंगे।

ठीक यही स्थिति भगवान विष्णु एवं योगिराज शिव के साथ भी है। यदि ये राक्षसों का संहार नहीं करते, तो मानव जाति का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता। इसलिये इन्हें भी अहिंसा का पालक ही कहा जाता है,

हिंसक नहीं। व्यक्तिगत रूप में, अपने स्वार्थ के वशीभूत होकर, उन्होंने एक चींटी की भी हत्या नहीं की है।

यह सर्वमान्य तथ्य है कि तलवारों के घाव भर जाते हैं, किन्तु कटु शब्दों के घाव हमेशा पीड़ा देते रहते हैं। अतः हमें सर्वदा सत्य, प्रिय, एवं हितकारी वचन ही बोलने चाहिए। कटु वचन एक प्रकार से वाणी की हिंसा है। अपने किसी पशु को कसाई के हाथ बेचना भी हिंसा है, क्योंकि पशु को बेचने वाले, मारने वाले, तथा खाने वाले समान रूप से पाप के भागी होते हैं। अहिंसा की सिद्धि के फलस्वरूप सभी प्राणियों से उसका वैरभाव समाप्त हो जाता है। यहाँ तक कि सर्प एवं बाघ आदि भी उसके सामने हिंसा भाव नहीं रखते।

२. सत्य—

सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म।

तैत्तिरीयोपनिषद

ब्रह्म सत्य स्वरूप, ज्ञान स्वरूप, और अनन्त है।

सत्येन उत्तमिता भूमिः।

अथर्ववेद

यह पृथ्वी सत्य (ब्रह्म) से टिकी हुई है।

सत्यमेव जयते नानृतम।

मुण्डक उपनिषद

सत्य की ही विजय होती है, झूठ की नहीं।

नहि सत्यात् परो धर्मः त्रिषु लोकेषु विद्यते।

अर्थात् सत्य के आचरण से बढ़कर तीनों लोकों में कोई बड़ा धर्म नहीं है। इन कथनों से सत्य की महत्ता निर्विवाद रूप से सिद्ध है। उस परब्रह्म को पाने के लिये हमें मन, वाणी, एवं कर्म से सत्य का आचरण करना ही होगा। "सांचा री साहेब, सांच सो पाइए सांच को सांच है प्यारा।" (किरंतन ८/७) का यह कथन भी इसी तथ्य

की ओर संकेत कर रहा है।

युधिष्ठिर का छल से भरा हुआ यह कथन "नरो वा कुंजरो" यथार्थ सत्य नहीं है। इसी प्रकार, ऐसा सत्य जो किसी के लिये प्राणघातक बन जाये, धर्म नहीं है, जैसे-वधिक को किसी भागती हुई गाय का सही पता बता देना। ऐसी अवस्था में किसी भी तरह गाय की रक्षा करना ही धर्म है, सत्य है।

आजकल लोग बहुत छोटी-छोटी बातों में भी झूठ का सहारा लेते हैं। यह बहुत ही अनुचित बात है और साधक को पथभ्रष्ट करने वाली है। ध्यान की स्वर्णिम राह पर चलने वाले व्यक्ति को किसी भी स्थिति में (प्राण रक्षा को छोड़कर) झूठ नहीं बोलना चाहिए, चाहे इसके लिये कितने भी क्षति (आर्थिक या सामाजिक) क्यों न उठानी पड़े।

नीति का यह कथन हमेशा ही ध्यान रखने योग्य है—

सत्यं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।

प्रियं चानृतं ब्रूयात्, एष धर्मः सनातनः॥

सर्वदा सत्य और प्रिय बोलना चाहिये। सत्य और अप्रिय नहीं बोलना चाहिए। इसी प्रकार प्रिय और मिथ्या वचन भी नहीं बोलना चाहिए। यही सनातन धर्म है। सत्य का पालन करने वाले की वाणी अमोघ हो जाती है। वह अपने मुख से जो कुछ भी कहता है, वह अवश्य होता है।

३. अस्तेय (चोरी न करना)– मात्र किसी के धन का हरण करना ही स्तेय (चोरी) नहीं है, बल्कि जाति (छोटी) या लिंग (स्त्री) के नाम पर उनके धार्मिक एवं सामाजिक अधिकारों का हरण करना भी स्तेय (चोरी) ही है।

सरकारी कर्मचारी जो भरपूर वेतन लेकर भी कार्य नहीं करते, एक प्रकार से चोरी करते हैं। बिना टिकट के यात्रा करना, चाहे वे साधुजन ही क्यों न हो, एक प्रकार से चोरी ही होती है। बड़ी-बड़ी कम्पनियों के स्वामी, जो थोड़ा वेतन देकर अधिक कार्य लेते हैं, स्तेय के दोषी हैं। सीमा से अधिक फीस लेने वाले डॉक्टर या वकील भी स्तेय के दोषी हैं, क्योंकि वे अपने रोगी या जन साधारण को अपने जाल में फँसाये रखते हैं। अधिक लाभ की दृष्टि से मिलावट करने वाले व्यापारी तथा घूस लेने वाले अधिकारी चोरी के अपराधी माने जायेंगे। राष्ट्रीय सम्पत्ति का अपहरण कर विदेशों में जमा करने वाले मन्त्री, अधिकारी, एवं व्यापारी भी स्तेय के अपराधी हैं।

ध्यान के पवित्र मार्ग पर चलने वाले साधक का यह परम कर्त्तव्य है कि वह दूसरों के धन को मिट्टी के समान

समझे तथा बिना किसी के दिये उनकी किसी भी वस्तु का प्रयोग न करे, चाहे वह उनके ऊपर कितनी ही श्रद्धा भावना क्यों न रखता हो।

अस्तेय की सिद्धि होने पर सभी रत्नों की प्राप्ति हो जाती है। भारतवर्ष की गरीबी का मुख्य कारण चोरी की प्रवृत्ति है।

४. ब्रह्मचर्य— ब्रह्मचर्य तीन प्रकार का होता है— शारीरिक, मानसिक, तथा आत्मिक।

शारीरिक ब्रह्मचर्य वह है, जिसमें विषय-प्रसंग का त्याग किया जाता है।

मानसिक ब्रह्मचर्य में मन में भी विषय -भोग की इच्छा नहीं होनी चाहिये। आत्मा द्वारा प्रियतम परब्रह्म के प्रेम में विचरण करना ही आत्मिक ब्रह्मचर्य है। सामान्य

रूप से ब्रह्मचर्य का तात्पर्य होता है – "ब्रह्म के समान निष्पाप जीवन होना, ब्रह्म के समान निर्दोष आचरण करना, या ब्रह्म के प्रेम में विचरण करना (डूबना)।

अथर्ववेद ३/५/१९ में कहा गया है—

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाध्नत।

अर्थात् ब्रह्मचर्य द्वारा विद्वानों ने मृत्यु को भी जीत लिया। ब्रह्मचर्य से रहित होकर शारीरिक, मानसिक, एवं आत्मिक उन्नति की कामना करना दिवास्वप्न के समान है। सम्पूर्ण प्राणिवर्ग में जो सौन्दर्य, तेज, बुद्धि, आनन्द, उत्साह, शक्ति, आकर्षण, सजीवता आदि गुण दिखायी देते हैं, उसके मूल में ब्रह्मचर्य ही है। ब्रह्मचारी व्यक्ति के लिये जीवन के किसी भी क्षेत्र में शिखर पर पहुँचना असम्भव नहीं है। इसलिये भगवान शिव कहते हैं—

सिद्धे बिन्दोः महायत्नेन किम् न सिध्यति भूतले।

अर्थात् ब्रह्मचर्य की सिद्धि से पृथ्वी पर ऐसा कौन सा कार्य है, जिसे सिद्ध नहीं किया जा सकता।

ब्रह्मचर्य रूपी अनमोल निधि को अपने जीवन का श्रृंगार बनाने के लिये कतिपय नियमों का पालन करना आवश्यक है—

१. बुरे संकल्पों को हटाना—

मनीषियों का कथन है—

कामस्य बीजः संकल्पः, संकल्पात् एव जायते।

अर्थात् काम के संकल्प से ही काम का प्रार्दुभाव होता है। अतः अपने मन में कभी भी काम के संकल्पों को पैदा ही न होने दें।

मन में उठने वाले काम के विचारों से इन्द्रियाँ

उत्तेजित हो जाती हैं और मनुष्य पतन की राह पर चल पड़ता है। मन सभी इन्द्रियों का राजा है। यदि मन ही कामासक्त हो गया, तो प्रजा रूपी इन्द्रियाँ क्या करेंगी। "यथा राजा तथा प्रजा" के कथन को हमेशा ध्यान में रखना चाहिए।

मन में कामजन्य विकारों में खोये रहना तथा अपनी इन्द्रियों को बलपूर्वक रोके रखना बहुत घातक होता है। इससे अनेक प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक रोग तो पैदा होते ही हैं, काम भी ज्वालामुखी की तरह फूटकर बाहर निकलता है, जिसका भयानक परिणाम चारित्रिक पतन के रूप में दिखायी पड़ता है। इसलिये ऐसी स्थिति में निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना चाहिए—

- उस समय तुरन्त १-३ गिलास तक ठण्डा पानी पी लेना चाहिए और मन में अपने आराध्य का नाम

भावपूर्ण तरीके से लेना प्रारम्भ कर देना चाहिए।

- अपने मन को तुरन्त उस कामचिन्तन से हटा देना चाहिए और प्रियतम का नाम लेते हुए टहलना प्रारम्भ कर देना चाहिए। थोड़ी ही देर में मन के शान्त होते ही कामज्वर छूमन्तर हो जायेगा।
- उस समय एकान्त में बिल्कुल न बैठें। यदि बैठना ही पड़े, तो पद्मासन में बैठकर प्रियतम अक्षरातीत का ध्यान करें।
- उस समय शरीर को मल-मूत्र का स्थान मानते हुए अपने आत्मिक स्वरूप की भावना करें तथा अक्षरातीत के अति मनोहर स्वरूप (नूरी स्वरूप) में स्वयं को लगा दें।
- सब ओर से निराश हो जाने पर आर्तस्वर में अपने

हृदय धाम में विराजमान अक्षरातीत को पुकारें—
 "मेरे प्राणेश्वर! मेरे—आपके पवित्र प्रेम में यह वासना
 बाधक बन रही है। आप इसे दूर करें और मुझे मात्र
 अपने प्रेम में ही डुबोये रखें।"

२. अनावश्यक स्पर्श से बचना— अशुद्ध मन से
 किया हुआ स्पर्श वह अग्नि है, जिसमें बड़े-बड़े तपस्वियों
 तथा योगियों की भी साधनायें टूट जाती हैं। कामेन्द्रिय
 तथा त्वगेन्द्रिय (त्वचा) की रचना एक ही पदार्थ से हुई
 है। अतः स्पर्श से मनोविकार का उत्पन्न होना
 स्वाभाविक है। जो स्पर्श की भयानक आँधी से बच जाता
 है, वह उन होने वाले दुष्परिणामों से भी बच जाता है,
 जो उसे अन्धा बना देने वाले होते हैं।

आत्म-साक्षात्कार या ब्रह्म-साक्षात्कार से पूर्व चित्त
 में जन्म-जन्मान्तरों की वासनायें सूक्ष्म रूप से दबी

रहती हैं। जिस प्रकार एक छोटी सी चिनगारी हवा के झोंकों से भयंकर ज्वाला का रूप ले लेती है, उसी प्रकार बड़े से बड़े सिद्ध-तपस्वी को भी चित्त में दबी हुई सूक्ष्म वासना कभी भी पथभ्रष्ट कर सकती है। स्पर्श-सुख की वासना उसके वैराग्य-विवेक पर पर्दा डाल देती है और धीरे-धीरे वह आसक्ति के जाल में फँसकर अपनी साधना को खो बैठता है।

साधकों को कभी भी सिद्ध महापुरुषों की नकल नहीं करनी चाहिये। आत्मज्ञानी या ब्रह्मज्ञानी महापुरुष जब किसी को स्पर्श या आलिंगन करते हैं, तो वे ब्राह्मी भाव में डूबे रहते हैं। मनोविकारों से उनका दूर का भी रिश्ता नहीं होता। उनकी देखा-देखी कोई कच्चा साधक यदि अनावश्यक स्पर्श या आलिंगन की राह अपनाता है, तो उसके लिये यह आत्मघात की राह हो सकती है।

ऐसा सुना जाता है कि एक बार साधनाकाल में स्वामी विवेकानन्द जी का हाथ किसी किशोरी लड़की के कन्धे पर पड़ गया, जिसके प्रायश्चित स्वरूप उन्होंने जलते हुए अँगारे पर अपना वह हाथ रख दिया। इसी प्रकार ध्यानस्थ ऋषि दयानन्द की गोद में (चरणों में) किसी महिला ने श्रद्धावश प्रणाम करते हुए अपने शिर से स्पर्श कर दिया था, जिसके प्रायश्चित स्वरूप महर्षि दयानन्द ने तीन दिनों तक पूर्णतया निराहार एवं मौन रहकर स्वयं को ध्यान में डुबोये रखा। यह उस समय की घटना है, जब वे श्री विरजानन्द जी के चरणों में विद्याध्ययन कर रहे थे।

इसलिये ध्यान के क्षेत्र में पदार्पण करने वाले प्रत्येक साधक एवं साधिका का कर्तव्य है कि वे सबमें आत्मिक दृष्टि रखें। लौकिक रूप में पुरुष वर्ग समान अवस्था

वाली स्त्री को बहन के रूप में, अधिक आयु की स्त्री को माता के समान, तथा कम आयु वाली कन्या को पुत्री मानें। इसी प्रकार साधिकायें भी लौकिक दृष्टि से पुरुषों को उम्र के अनुसार भाई, पिता, या पुत्र के रूप में देखें।

मातृशक्ति को आशीर्वाद देते समय साधकों को यह ध्यान रखना चाहिए कि आशीर्वाद की कामना करने वाली बहनें भी उन्हीं जैसी आत्म-स्वरूपा हैं। उनका हाथ उनके शिर के अतिरिक्त अन्य किसी भी अंग पर नहीं पड़ना चाहिए।

३. आहार सम्बन्धी निर्देशन- योगी का आहार अत्यधिक सात्विक होना चाहिए। रजोगुणी और तमोगुणी आहार करने वाला व्यक्ति ब्रह्मचर्य एवं ध्यान-साधना का अधिकारी नहीं बन सकता। आहार के सम्बन्ध में ये तीन सूत्र हमेशा याद रखना चाहिए – "आधा पेट परमयोगी,

पौन पेट योगी, तथा पूरा पेट भोगी।" भरपेट भोजन करने वाला कभी भी ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता। मात्रा सेवी (अल्पाहार करने वाला) परम संयमी होता है। वह सहज ही ब्रह्मचर्य का पालन कर लेता है।

नोट- आहार-सम्बन्धी विशेष जानकारी आगे दी जायेगी।

४. दिनचर्या एवं अन्य सावधानियाँ- ब्रह्मचर्य पालन के इच्छुक व्यक्ति को निम्नलिखित नियमों का पालन करना चाहिए-

- प्रत्येक स्थिति में प्रातःकाल ४ बजे उठ जाना चाहिए। सूर्योदय के बाद सोना ब्रह्मचर्य के लिये घातक होता है। देर तक सोने से आँतों का मल विकृत होकर सड़ने लगता है, जिससे शरीर में

अनेक रोग पैदा होते हैं तथा तमोगुण की वृद्धि होती है।

- रात्रि को देर से नहीं सोना चाहिए। रात्रि को देर तक ध्यान तो कर सकते हैं, किन्तु पढ़ना, बातचीत करना, या चर्चा-प्रवचन करना स्वास्थ्य एवं संयम दोनों के लिये हानिकारक है।
- हमेशा करवट ही सोयें। पीठ के बल या पेट के बल कदापि नहीं। सोते समय छाती पर हाथ न रखें। नींद आने से पहले बायीं करवट तथा नींद के समय दायीं करवट सोयें। सोते समय पैरों को सिकोड़े नहीं, बल्कि फैलाकर रखें।
- भोजन से पूर्व तथा पहले आचमन (१ चम्मच भर पानी पीना) अवश्य करें। इससे अन्न का विकार

बहुत कम हो जाता है। ऐसा छान्दोग्योपनिषद का कथन है।

- एकान्त में रहने पर मन को खाली इधर-उधर भटकने न दें, अन्यथा यह हमें अधोगति में गिरा सकता है। एकान्त में, या तो प्रियतम का ध्यान करें, या स्वाध्याय करें, अथवा सो जायें। यदि चिन्तन करना भी पड़े तो मात्र विषयों के त्याग का ही चिन्तन करें, भोग का नहीं। एकान्त में विषयों का चिन्तन महान अनर्थकारी होता है।
- सोते समय गर्म दूध या कोई उत्तेजक पदार्थ न खायें-पिएं। कौपीन (लंगोट) भी ढीली बाँधे, कसकर बाँधना नादानी है।
- तेल आदि लगाते समय अंगों का अनावश्यक मर्दन

न करें तथा श्रृंगार-प्रसाधनों से अपने बाह्य रूप को सजाने की चेष्टा न करें।

- प्रातःकाल उषःपान (खाली पेट पानी पीना) अवश्य करें। मलावरोध (कब्ज) न होने दें। इसके लिये त्रिफला, ईसबगोल की भूसी, तथा जल की अधिक मात्रा का सेवन करें।
- अश्लील दृश्यों, गीतों तथा मन को विकृत करने वाली गन्दी बातों से स्वयं को पूर्णतया दूर रखें।
- भले ही निर्जन वनों, रेगिस्तानों, तथा भयानक वनों में अकेले विचरण करना पड़े, किन्तु दुराचारी पुरुषों की संगति में कदापि न रहें। सामाजिक सम्बन्ध के नाम पर उनसे सम्बन्ध न जोड़ें। ब्रह्मचर्य में स्थित हो जाने पर शारीरिक, मानसिक, तथा आत्मिक

शक्ति बहुत अधिक बढ़ जाती है।

५. अपरिग्रह- भौतिक वस्तुओं का अनावश्यक संग्रह मोह का कारण बन जाता है, जिससे समाधि लाभ में बहुत बाधा पहुँचती है। ध्यान मार्ग के पथिक को कभी भी अपनी सामान्य आवश्यकता से अधिक अन्न, वस्त्र, एवं अर्थ का संग्रह नहीं करना चाहिए। अयाचित वृत्ति (बिना माँगे जो मिले) से अपना जीवन निर्वाह करना चाहिए और भव्य भवनों में निवास का मोह भी नहीं रखना चाहिए। लौकिक सुखों को तृणवत् समझकर सबके कल्याणार्थ अपनी सम्पदा को खर्च करना चाहिए।

ज्ञान, विवेक, वैराग्य, शील, सन्तोष, सेवा, विनम्रता आदि गुण ही दिव्य धन हैं, जिनका संग्रह करना चाहिए। नश्वर मायावी वस्तुएँ हमें अपने जाल में फँसाकर प्रियतम के प्रेम से दूर कर देती हैं। परिग्रह (संचय) के ही

जाल में फँसकर तो संसार प्रियतम परब्रह्म के प्रेम से वंचित हो रहा है, इसलिये ध्यान मार्ग की साधना करने वाले को अपरिग्रही होना चाहिए। अपरिग्रह में स्थित हो जाने से पूर्व जन्मों तथा भविष्य के जन्म के विषय में बोध हो जाता है।

६. शौच- शौच का तात्पर्य है- पवित्रता। यह दो प्रकार का होता है-

१. बाह्य शौच- जल तथा मिट्टी आदि से शरीर, वस्त्र, एवं स्थान को पवित्र रखना। गन्दगी से भरपूर दुर्गन्धित वातावरण ध्यान के उपयुक्त नहीं होता, क्योंकि वह तमोगुण से ग्रसित रहता है, इसलिये ध्यान की वास्तविक स्थिति में पहुँचने के लिये शरीर, वस्त्र, एवं स्थान का स्वच्छ होना आवश्यक है। नेती, धौति, बस्ति, एवं औषधियों से शरीर को शुद्ध किया जाता है।

इसे बाह्य शौच कहते हैं।

२. आभ्यन्तर शौच— हृदय में विद्यमान ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, अहंकार आदि दोषों (मलों) को मैत्री भावना से, बुरे विचारों को शुद्ध विचारों से , तथा दुर्व्यवहार को सद्व्यवहार से हटाना, मानसिक शौच है। इसी प्रकार अविद्यादि क्लेशों को विवेक-ज्ञान द्वारा दूर करना चित्त का शौच है।

प्राणायाम द्वारा बाह्य एवं आन्तरिक दोनों प्रकार की शुद्धि होती है। नाड़ी शोधन प्राणायाम से जहाँ नाड़ियों की शुद्धि होती है, वहीं बाह्य एवं आभ्यन्तर प्राणायामों से स्थूल हृदय, फेफड़े, एवं रक्त की शुद्धि के साथ-साथ सूक्ष्म शरीर के मनोविकार भी दूर होते हैं। इसलिये योग दर्शन २/५२ में कहा है—

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।

अर्थात् प्राणायाम द्वारा विवेक ज्ञान के ऊपर पड़ा हुआ आवरण समाप्त हो जाता है।

बाह्य शौच का लाभ यह होता है कि जब उसे अपने शरीर की अशुद्धियाँ (मल, मूत्र, कफ आदि) दिखायी देती हैं, तो उसका शरीर से राग एवं ममत्व छूटने लगता है। वह इससे अलग होकर आत्म-स्वरूप में स्थित हो जाना चाहता है।

आभ्यन्तर शौच से चित्त की शुद्धि, मन की शुद्धता, एकाग्रता, इन्द्रियों का जीतना, तथा आत्म-दर्शन प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त होती है।

७. सन्तोष- उचित प्रयत्न के पश्चात् जो फल मिले अथवा जिस अवस्था में रहने को मिले, उसमें प्रसन्नचित्त

बने रहना तथा तृष्णाओं का परित्याग करना सन्तोष है।

सुख की इच्छा करने वाले को सन्तोष का सहारा लेकर संयमित जीवन व्यतीत करना चाहिए। सन्तोष में ही सुख है तथा असन्तोष दुःख की जड़ है।

यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि सतोगुण के प्रकाश में चित्त की प्रसन्नता को सन्तोष कहते हैं। तमोगुण के अन्धकार में चित्त में आलस्य तथा प्रमाद की चादर ओढ़े रहने की अवस्था को कभी भी सन्तोष नहीं समझना चाहिए।

संसार में जो भी दिव्य सुख है, वह तृष्णा के नाश अर्थात् सन्तोष धारण करने, से प्राप्त होने वाले सुख के सोलहवें भाग के भी बराबर नहीं है।

८. तप- तप के विषय में गीता में बहुत अच्छा

वर्णन किया गया है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।

ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥ गीता १७/१४

माता-पिता आदि देवों, ब्राह्मण, गुरु, और बुद्धिमान पुरुषों का पूजन (सम्मान) करना, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य, एवं अहिंसा के पालन आदि गुणों को व्यवहार में लाना, शारीरिक तप कहलाता है।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।

स्वाध्यायाभ्यासनं चैव वांगङ्गमयं तप उच्यते॥

गीता १७/१५

ऐसे वचन बोलें जिससे किसी को कष्ट न हो, जो सत्य हों, प्रिय हों, तथा हितकारी हों। इसके अतिरिक्त स्वाध्याय का अभ्यास वाणी का तप कहलाता है।

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।

भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥ गीता १७/१६

अपने मन को सर्वदा प्रसन्न रखना, मधुर भाव रखना, व्यर्थ में न बोलना, प्रत्येक बात में अपने को सम्भाल कर रखना, तथा मन में किसी भी प्रकार की कुत्सित (बुरी) भावना उत्पन्न न होने देना, एवं शुद्ध भावना से कार्य करना, मानसिक तप कहलाता है।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।

अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥

गीता १७/१७

मनुष्यों द्वारा ये तीन प्रकार के शारीरिक, मानसिक, तथा वाचिक तप किये जाते हैं। परम श्रद्धा से युक्त होकर, फल की कामना का परित्याग करके, जो तप

किया जाता है, उसे सात्त्विक तप कहते हैं।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।

क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥

गीता १७/१८

दूसरों से सत्कार पाने, अपने अभिमान का प्रदर्शन करने, दूसरों से अपनी पूजा कराने अर्थात् दम्भपूर्वक दिखावे मात्र के लिये जो तप किया जाता है, वह चञ्चल तथा क्षणभंगुर होने से राजसिक तप कहा जाता है।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।

परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥

गीता १७/१९

अन्धविश्वास के वशीभूत होकर, स्वयं को पीड़ा

देकर (वर्षों तक खड़े रहकर, एक हाथ उठाकर, निराहार रहकर, या अपने चारों ओर आग जलाते हुए चिलचिलाती धूप में बैठकर), किसी का अनिष्ट करने की भावना से जो तप किया जाता है, वह तामसिक तप कहा जाता है।

तप द्वारा अशुद्धियों के क्षय होने से शरीर तथा इन्द्रियों की शुद्धि होती है , जिसके परिणाम स्वरूप अणिमा आदि सिद्धियों को प्राप्त करने की योग्यता आ जाती है।

९. स्वाध्याय- मोक्ष का ज्ञान देने वाले वेदादि ग्रन्थों का अध्ययन या आत्म-चिन्तन या परमात्म-चिन्तन स्वाध्याय कहलाता है। मनीषियों का कथन है कि जीवन में स्वाध्याय के प्रति कभी भी प्रमाद नहीं करना चाहिए। स्वाध्याय द्वारा लाखों-करोड़ों वर्ष पूर्व के

मनीषियों की ज्ञानधारा हमारे हृदय में प्रवाहित होती है। स्वाध्याय से रहित व्यक्ति और समाज दिशाहीन हो जाते हैं। योग साधना का आलम्बन लेने वाले साधक के लिये तो स्वाध्याय की अत्यन्त आवश्यकता होती है, क्योंकि इसके द्वारा वह अध्यात्म जगत के शाश्वत सिद्धान्तों तथा बड़े-बड़े योगियों के विचारों से अवगत होता रहता है।

१०. ईश्वर प्रणिधान- अपने अन्दर किसी भी प्रकार (ज्ञान, वैराग्य, सौन्दर्य, कुल, प्रतिष्ठा आदि) के अहम् को न रखते हुए स्वयं को प्रियतम् परब्रह्म के प्रति समर्पित करना प्रणिधान कहलाता है।

शयन या आसन पर स्थित होकर अथवा चलते हुए या अन्य किसी भी अवस्था में, जो अपना सर्वस्व अक्षरातीत के प्रति समर्पित किये रहते हैं, वे अवश्य ही उनको अपने धाम हृदय में बसा लेते हैं।

जब तक "मैं और मेरा" का भाव दिल से हटकर "तू और तेरा" का स्थान नहीं ले लेता, तब तक कैसा समर्पण, कैसी समाधि, और कैसा साक्षात्कार?

योग दर्शनकार ने कितना सही लिखा है—

समाधिसिद्धिः ईश्वर प्रणिधानात्। योग दर्शन २/४५

अर्थात् समर्पण से ही समाधि की प्राप्ति होती है। वस्तुतः समर्पण ही वह दिव्य औषधि है, जो हमारे धाम हृदय में प्रियतम की छवि बसाकर भवरोग से छुटकारा दिलाती है।

समर्पण की राह में सबसे बड़ी बाधा अहम् की है। सारा संसार इसी अहम् के जाल में फँसा हुआ है और किसी भी तरह से निकल नहीं पा रहा है—

इन मैं में डूबया सब कोई, याको पार न पावे कोए।

याको पार सो पावहीं, जाको मुतलक बकसीस होए॥

किरंतन ५/३०

अक्षरातीत परब्रह्म की जिस पर विशेष कृपा होती है, वह ही मैं (खुदी) को छोड़कर धनी के प्रेम और समर्पण की राह अपनाता है। महामति जी के शब्दों में—

मैं मेरे धनीय की, चरन की रेनु पर।

कोट बेर वारों अपना, टूक-टूक जुदा कर॥

किरंतन ९०/२४

मैं अपने प्राणेश्वर अक्षरातीत की चरण-धूलि के ऊपर करोड़ों बार स्वयं को समर्पित करती हूँ। इस कार्य में यदि शरीर के टुकड़े-टुकड़े भी हो जायें, तो कोई चिन्ता नहीं।

जिन दिस मेरा पिउ बसे, तिन दिस पर होऊं कुरबान।

रोम रोम नख सिख लों, वार डारों जीव सों प्रान।।

किरंतन ९०/२६

मेरे प्रियतम अक्षरातीत जिस दिशा में रहते हैं, उस दिशा के ऊपर भी मैं अपने को न्योछावर करती हूँ। धनी के प्रेम में मैं अपने सम्पूर्ण शरीर के एक-एक रोम को भी अपने प्राणों सहित समर्पित करती हूँ।

इन खसम के नाम पर, कई कोट बेर वारों तन।

टूक टूक कर डारहूँ, कर मन वाचा करमन।।

किरंतन ९०/७

मैं अपने धाम धनी के नाम पर एक-दो बार नहीं, बल्कि करोड़ों बार स्वयं को न्योछावर करती हूँ। मैं मन, वाणी, तथा कर्म से अपने शरीर को टुकड़े-टुकड़े

कराकर भी समर्पित होने के लिये पल-पल तड़प रही हूँ।

कर कबीला पार का, अंकूर बल सूर धीर।

एक धनी नजर में लेय के, उड़ाए दे सरीर॥

किरंतन ८७/८

हे मेरी आत्मा! तू संसार के इन झूठे सम्बन्धियों के बीच क्यों फँसी पड़ी है? तू अपने मूल सम्बन्ध को याद कर। तू मात्र अपने दिल में धाम धनी को बसा और इस शरीर को उनके ऊपर न्योछावर कर दे। इसी में तेरी आत्मिक वीरता कही जायेगी।

हमारे धाम-हृदय में केवल परमधाम और प्रियतम अक्षरातीत की शोभा का ही वास होना चाहिए। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये अपनी आत्मा को उनके प्रति पूर्णतया समर्पित करना ही पड़ेगा। इस पुनीत कार्य में किसी भी

बात की चिन्ता नहीं करनी होगी। यही भाव प्रकट करते हुए श्री महामति जी कहते हैं—

महामति कहे पीछे न देखिए, नहीं किसी की परवाहे।

एक धाम हिरदे में लेय के, उड़ाए दे अरवाहे॥

किरंतन ८७/१३

समर्पण और प्रेम की निर्मल सरिता में गोता लगाकर ललिता के मुख से भी कुछ ऐसे ही स्वर फूट रहे हैं—

वारी रे वारी मेरे प्यारे, वारी रे वारी।

टूक टूक कर डारों या तन, ऊपर कुंज बिहारी॥

किरंतन ११९/१

ललिता प्रेम और समर्पण में इतनी डूब चुकी हैं कि उन्हें संसार दिखायी ही नहीं देता। वे एक-दो बार नहीं,

बल्कि करोड़ों बार अपने प्राणेश्वर के ऊपर स्वयं को समर्पित करने के लिये व्याकुल हैं।

सुन्दर सरूप सुभग अति उत्तम, मुझ पर कृपा तुमारी।

कोट बेर ललिता कुरबानी, मेरे धनी जी कायम सुखकारी॥

किरंतन ११९/५

यह माया का तन प्रियतम को पाने के लिये ही मिला है। इसे भोगों में फँसाये रखना कहाँ की समझदारी है। धनी को पाने के लिये अब तो एक ही मार्ग बचा है कि इस शरीर और जीव को धनी के प्रेम की राह पर समर्पित कर दिया जाये।

माया काया जीव सों, भान भून टूक कर।

विरहा तेरा जिन दिसा, मैं वारुं तिन दिस पर॥

कलस हि. ८/७

अपने अहम् का परित्याग ही सबसे बड़ा त्याग है और समर्पण की राह में अहम् ही सबसे बड़ी बाधा है। यदि आप उसे पाना चाहते हैं, तो सबसे पहले अपने लौकिक अस्तित्व को भुला दीजिए, तभी समर्पण और प्रेम के मीठे फल का रसास्वादन करने का शुभ अवसर प्राप्त होगा।

महामत कहे ए मोमिनों, सुनो मेरे वतनी यार।

खसम करावें कुरबानियां, आओ मैं मारे की लार।।

खिलवत २/३५

पूर्ण समर्पण तो केवल एक पर ही होता है और यह तभी सम्भव होता है, जब उस अद्वितीय अक्षरातीत से अपने मूल सम्बन्ध की पहचान हो जाये। उस समय हृदय से एकमात्र यही बात निकलती है कि मेरी

अन्तरात्मा केवल आपकी है। आपके अतिरिक्त अन्य सभी सम्बन्ध अग्नि की लपटों के समान मुझे दुःखों की अग्नि में जलाने वाले हैं।

मैं तो तुमारी कीयल, अव्वल बीच और हाल।

तुम बिना जो कछू देखत, सो सब मैं आग की झाल॥

खिलवत ३/९

विरह-प्रेम की छोटी सी चिनगारी जब हृदय में फूट पड़ती है, तो समर्पण में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है। आत्मा प्रियतम की शोभा को जैसे-जैसे देखती जाती है, वैसे-वैसे वह स्वयं को उन पर लुटाती (समर्पित करती) जाती है।

हक इलम के जो आरिफ, मुख नूरजमाल खूबी चाहें।

चाहें चाहें फेर फेर चाहें, देख देख उड़ावे अरवाहें॥

शृंगार २०/१

जो अपने अहं (खुदी) का परित्याग करके प्रेम और समर्पण की राह अपना लेता है, वह अध्यात्म के चरम शिखर पर पहुँच जाता है। इसे इस घटनाक्रम द्वारा सरलता से समझा जा सकता है—

एक बार शेख शिबली के पास दो व्यक्ति दीक्षा लेने के लिये आये। शेख ने अनुभव किया कि दोनों में मात्र एक ही व्यक्ति दीक्षा पाने का अधिकारी है। उन्होंने उन दोनों से अलग-अलग आने के लिये कहा।

जब पहला व्यक्ति आया, तो उन्होंने कहा कि यह कलमा पढ़ो— "ला इल्लाह इल्लिल्लाह शिबली रसूल अल्लाह।"

इस पर वह व्यक्ति बोला— "तौबा! तौबा!"

तब उन्होंने भी कहा- "तौबा! तौबा!"

उस व्यक्ति ने शेख से पूछा- "आपने तौबा क्यों की?"

उन्होंने कहा- "पहले तू बता कि तूने क्यों की?"

वह व्यक्ति बोला- "आप तो मामूली फकीर हैं और रसूल होने का दावा करते हैं। अब आप बताइये कि आपने तौबा क्यों की?"

शेख ने कहा- "मैंने इसलिये की कि इतनी उँची नाम की दौलत एक गन्दे हृदय में डालने जा रहा था, लेकिन बच गया। तू मेरे काम का नहीं। यदि बैअत (दीक्षा) लेनी हो, तो किसी मस्जिद के मुल्ला के पास चला जा।"

जब वह चला गया तो दूसरा व्यक्ति आया।

उससे भी शेख ने कहा, पढ़ो- "ला इल्लाह इल्लिल्लाह शिबली रसूल अल्लाह।"

यह सुनते ही वह बोला- "हज़रत, मैं जाता हूँ।"

"क्यों?" शेख ने पूछा।

उसने उत्तर दिया- "मुझे ऐसा महसूस हो रहा है कि पैगम्बर को मानने वाला तो मैं पहले से ही हूँ। कुरआन शरीफ भी मेरे घर पर है। अगर आप ही पैगम्बर हैं, तो मुझे आपके पास आने की जरूरत ही नहीं है। मेरा ख्याल ऊँचा था, लेकिन आपने नीचा ख्याल जाहिर किया क्योंकि मैंने तो सुना था कि मुर्शिद और खुदा एक ही होते हैं।"

यह सुनते ही शेख बोले- "मैं तुम्हें ही बैअत दूँगा।"

जो खुदा का आशिक है, वह खुदा है। उसमें और

मालिक (खुदा) में कोई भी फर्क नहीं।

तारतम वाणी भी इसी तथ्य को पुकार-पुकार कर कह रही है—

मारा कहा काढ़ा कहा, और कहा हो जुदा।

एही मैं खुदी टले, तो बाकी रहा खुदा॥

खिलवत २/३०

अर्थात् जिसके हृदय से मैं खुदी पूर्ण रूप से निकल जाती है, उसके हृदय में प्रियतम अक्षरातीत विराजमान हो जाते हैं। उसका शरीर मात्र देखने के लिये ही होता है, कार्य सारा परब्रह्म के निर्देशों पर होता है। दूसरे शब्दों में, ऐसा भी कहा जा सकता है कि खुदी को छोड़ना और खुदा को पाना एक ही बात है। खुदा को पाने वाला वैसा ही (तदोगत्) हो जाता है। "ब्रह्मविदो ब्रह्मेव भवति",

उपनिषदों का यह कथन भी यही संकेत कर रहा है। मनीषियों के कथनानुसार समाधि द्वारा परब्रह्म का साक्षात्कार करने में आठ मुख्य कारक होते हैं—

१. पूर्ण वैराग्य २. पूर्ण समर्पण ३. शौच ४. सात्त्विक अल्पाहार ५. दुर्बलता होने पर औषधि सेवन ६. आसन सिद्धि ७. प्राणायाम सिद्धि ८. पूर्ण पुरुषार्थ।

उपरोक्त आठ कारकों में से दो कारकों (पूर्ण समर्पण एवं शौच) की विवेचना हो चुकी है। अब शेष कारकों की संक्षिप्त विवेचना इस प्रकार है—

१. पूर्ण वैराग्य— वैराग्य का तात्पर्य गृह त्यागकर वस्त्र धारण करने से नहीं है, अपितु विषयों के राग-द्वेष से परे हो जाना ही वैराग्य है। वैराग्य तीन प्रकार का होता है—

१. श्मशान वैराग्य- किसी दुःखद घटना के कारण जब संसार से चित्त कुछ समय के लिये हट जाता है, तो इसे श्मशान वैराग्य कहते हैं। मन में गुप्त रूप से भोगों की प्रबल कामना होने के कारण व्यक्ति पुनः संसार में फँस जाता है। इस प्रकार के वैराग्य में ज्ञान तथा भक्ति की बहुत कमी होती है, इसलिये श्मशान वैराग्य क्षणिक या बहुत कम समय के लिये ही होता है।

२. अपर वैराग्य- योगदर्शन १/१५ में कहा गया है कि "दृष्टानुश्रविक विषय वितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम्" अर्थात् दृष्ट (देखे हुए) और आनुश्रविक विषयों में जिसको तृष्णा नहीं रही है, उसका वैराग्य वशीकार नाम वाला अर्थात् अपर वैराग्य है। विषय दो प्रकार के हैं- दृष्ट और आनुश्रविक। दृष्ट वे हैं जो इस संसार में दिखायी देते हैं, जैसे- शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध,

स्त्री, धन, राज्य इत्यादि। आनुश्रविक वे हैं, जो वेद एवं शास्त्रों द्वारा सुने जाते हैं, जैसे— देवलोक, स्वर्ग, विदेह, तथा अणिमादि सिद्धियाँ। इन दोनों प्रकार के विषयों की उपस्थिति में भी जब चित्त इनके संग दोष से सर्वथा रहित हो जाता है, न इनको ग्रहण करता है, और न परे हटाता है, तो चित्त की ऐसी अवस्था का नाम वशीकार संज्ञा है। इसी को अपर वैराग्य भी कहते हैं।

३. पर-वैराग्य— योग दर्शन १/१६ का कथन है—

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्।

अर्थात् विवेक ख्याति द्वारा गुणों से तृष्णा रहित हो जाना पर-वैराग्य है।

दिव्य-अदिव्य विषयों में तृष्णा रहित हो जाना अपर वैराग्य है। इस वैराग्य में योगी दृष्ट तथा आनुश्रविक

विषयों के दोषों को देखकर उससे विरक्त होता है। जब चित्त से उनकी तृष्णा निवृत्त हो जाती है, तब चित्त एकाग्र हो जाता है। यही सम्प्रज्ञात समाधि है। इस समाधि की उच्चतम अवस्था में चित्त तथा पुरुष के भेद का साक्षात्कार होता है, जिसे पुरुष ख्याति या विवेक ख्याति कहते हैं। इस अवस्था में जैसे-जैसे अभ्यास बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे चित्त निर्मल होता जाता है। चित्त की अत्यन्त निर्मलता में यह पुरुष ख्याति भी चित्त की ही एक सात्त्विक वृत्ति और गुणों का परिणाम प्रतीत होने लगती है। तब इस विवेक ख्याति से भी वैराग्य होने लगता है। इस प्रकार गुणों से भी तृष्णा रहित अर्थात् विरक्त होना पर-वैराग्य है। इस पर-वैराग्य को ही ज्ञान प्रसाद मात्र कहते हैं, क्योंकि इसमें रजस्-तमस् गुणों का गन्ध मात्र भी नहीं रहता। पर-वैराग्य के निरन्तर

अभ्यास से ही कैवल्य की प्राप्ति होती है।

यद्यपि अपर एवं पर-वैराग्य तो समाधि द्वारा ही प्राप्त होते हैं, किन्तु ज्ञान, सत्संग, एवं विषयों की निरर्थकता से उत्पन्न होने वाले विवेकजन्य पूर्ण वैराग्य की आवश्यकता होती है, क्योंकि इसके बिना संसार के मोह जाल को छोड़कर कोई साधना में लग ही नहीं पाता।

४. सात्विक अल्पाहार- साधकों के लिये आहार मोक्ष की कुञ्जी है। छान्दोग्योपनिषद में कहा गया है-

आहार शुद्धौ सत्व शुद्धिः सत्व शुद्धेः ध्रुवास्मृतिः।

स्मृति लब्धे सर्व ग्रन्थिनाम् विप्रमोक्षः॥

अर्थात् आहार शुद्धि से ही चित्त शुद्ध होता है। चित्त की शुद्धि होने से स्मृति अटल (ध्रुव) हो जाती है। स्मृति

के ध्रुव (स्थिर) होने पर सभी ग्रन्थियों (अविद्यादि) से छुटकारा मिल जाता है, अर्थात् मोक्ष प्राप्त होता है। मनुष्य जो कुछ भी आहार करता है, उसका स्थूल भाग तो मल बनता है, सूक्ष्म भाग रस बनता है, और उससे भी सूक्ष्मतर भाग से मस्तिष्क के विचार तन्तु बनते हैं। वस्तुतः मनुष्य का व्यक्तित्व अपने विचारों से ही निर्मित होता है। "संकल्पोऽयंपुरुषः" का कथन अक्षरशः सिद्ध है। आहार ही मनुष्य को देवता बना सकता है और आहार ही राक्षस। इस त्रिगुणात्मक ब्रह्माण्ड में अपने-अपने गुण, कर्म, और स्वभाव के अनुसार मनुष्यों का भोजन होता है, जिसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

आयुः सत्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।

रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहराः सात्विकप्रियाः॥

गीता १७/८

आयु, सत्व, बल, आरोग्य, सुख, तथा रसास्वादन की शक्ति बढ़ाने वाले रसयुक्त, चिकने, स्थिरता प्रदान करने वाले, हृदय-शक्तिवर्धक आहार सात्विक वृत्ति के लोगों को प्रिय होते हैं। सात्विक आहार इस प्रकार हैं— दूध, घी, ताजे रसदार मीठे सात्विक फल, मीठा सन्तरा, मीठा अनार, किन्नु, मौसमी, आम, अँगूर, सेब, केला, मीठा आड़ू, खुबानी आदि। शुष्क फल, जैसे— बादाम, अंजीर, मुनक्का आदि। सात्विक सब्जी, जैसे— लौकी, परवल, तौरई इत्यादि। सात्विक अन्न, जैसे— जौ, गेहूँ, मूँग, चावल इत्यादि। योगी के लिये मूँग सर्वोत्तम आहार है। भोजन करते समय पेट का दो भाग अन्न, फल, या शाक के लिये, एक भाग जल के लिये, तथा एक भाग वायु के लिये खाली छोड़ना चाहिए। इससे

अधिक मात्रा लेने पर भोजन राजसिक एवं तामसिक हो जाता है। साधना करने वाले को कभी भी मात्रा से अधिक आहार नहीं लेना चाहिए, भले ही कितनी अधिक भूख क्यों न लगी हो।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।

आहरा राजस्येष्टा दुःखशोकाकामयप्रदाः॥

गीता १७/९

कटु अर्थात् चरपरे, खट्टे, नमकीन, बहुत गरम, तीक्ष्ण, रूक्ष, और जलन पैदा करने वाले आहार दुःख, शोक, और रोग के देने वाले हैं। करेला, हरड़ आदि कटु है। समुद्री नमक, काला नमक आदि की अधिक मात्रा रजोगुणी होती है। इमली, कच्चे आम, तथा करौंदे की खटाई हानिकारक होती है। दूध आदि सात्विक पदार्थ

भी बहुत गर्म नहीं होना चाहिए, अन्यथा रजोगुण उत्पन्न होता है। दूध हमेशा धारोष्ण या हल्का गुनगुना ही होना चाहिए। लाल, हरी, या सफेद मिर्च तीक्ष्ण होती है, जो शरीर में दाह (जलन) पैदा करती है। चाय, काफी आदि पदार्थ उत्तेजक एवं रजोगुणात्मक होते हैं।

तेल या घी में तले हुए पदार्थ अधिक मात्रा में खाने पर सुपाच्य नहीं रह जाते और राजसिक बन जाते हैं। इसलिए मालपुआ, घी से तर हलवा, गाढ़ी खीर आदि का सेवन अति अल्प मात्रा में ही करना चाहिए। मसालों में जहाँ धनिया, हल्दी, जीरा, अजवाइन आदि सात्विक हैं, वहीं हींग, लौंग, इलायची, जायफल, तेजपत्ता, दालचीनी, सौंठ आदि रजोगुणी मसाले हैं। दही, छाछ, एवं लस्सी का सेवन भी साधकों के लिए उचित नहीं है।

द्रष्टव्य— खट्टे पदार्थों में कागजी नींबू, लवण में

सैन्धव, मिर्च में काली मिर्च, मीठे पदार्थों में मिश्री को प्रायः निर्दोष माना जाता है।

यातयामं गतरसं पूर्तिं पर्युषितं च यत्।

उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥

गीता १७/१०

जो सारहीन, रसहीन, दुर्गन्धयुक्त, बासी, जूठा, और अपवित्र भोजन है, वह तामस प्रकृति वालों को प्यारा होता है। अत्यधिक जलाने या गर्म बालू आदि में भुनने से जिनका रस जल जाता है, वे तामसिक हो जाते हैं, जैसे- मक्का आदि भुने जाने पर तमोगुणी हो जाते हैं, क्योंकि इनमें नाम मात्र के लिए भी रस नहीं होता। चावल या चने को भूनकर खाना उतना हानिकारक नहीं होता, जितना कि मक्का। दोपहर के पश्चात् भुना हुआ

मक्का (popcorn) भूलकर भी नहीं खाना चाहिए। इसी प्रकार ठोस सत्तू आदि का भी प्रयोग नहीं करना चाहिए। सत्तू का यदि प्रयोग करना ही पड़े, तो उसे पतले द्रव के रूप में शक्कर, मिश्री, या सैन्धव नमक के साथ सेवन करना चाहिए।

दुर्गन्ध वाले सभी पदार्थ तामसिक होते हैं, जैसे—माँस, मछली, शराब, लहसुन, प्याज इत्यादि। यदि ऐसा कहा जाए कि लहसुन-प्याज तो वनस्पति हैं, पुनः ये तामसिक कैसे हैं? तो इसका उत्तर यह है— यद्यपि ये औषधि के रूप में गुणकारी हैं, किन्तु तामसिक होने के कारण साधकों के लिए त्याज्य हैं। जिस प्रकार लालमिर्च वनस्पति होते हुए भी अल्पमात्रा में रजोगुणी तथा अधिक मात्रा में तमोगुणी है, उसी प्रकार लहसुन और प्याज को भी समझना चाहिए। बासी भोजन भी दुर्गन्ध से युक्त हो

जाता है। इसी तरह जूठा भोजन भी तामसिक माना गया है।

माँस, मछली, एवं शराब का सेवन करने वाला कभी भी समाधि की अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकता। जिन-जिन पन्थों में धर्म की ओट में माँस, मछली, एवं शराब का सेवन किया जाता है, वह महापाप एवं घृणित कार्य है। गीता १४/१८ में स्पष्ट कहा गया है—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।

जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

सतोगुणी व्यक्ति ही आध्यात्मिक उन्नति करते हैं, रजोगुण व्यक्ति मध्यम अवस्था में रहते हैं, तथा नीच गुण एवं स्वभाव वाले लोग अधोगति (पतन) के मार्ग में जाते हैं।

गीता का उपरोक्त कथन यही सिद्ध करता है कि ध्यान-समाधि या आत्म-साक्षात्कार की कामना रखने वाले को राजसिक एवं तामसिक आहार का परित्याग कर देना चाहिए। दुर्भाग्यवश, आजकल मठों, मन्दिरों, एवं आश्रमों में भी चाय , कॉफी, तम्बाकू, मिर्च, गरम मसालों, लहसुन, प्याज आदि तामसिक पदार्थों का प्रयोग बहुतायत से हो रहा है। वाममार्गी, रामकृष्ण मिशन, वैरागी आदि में कोई-कोई तो सामिष भोजन एवं गाँजा, भाँग आदि नशों का धड़ल्ले से प्रयोग कर रहे हैं। इस प्रकार का तमोगुणी आहार करने वाले ध्यान मार्ग के अधिकारी नहीं बन सकते। चाय और कॉफी के शौकीन लोग इसकी तरह-तरह से महत्ता बताया करते हैं, किन्तु वे इसकी संरचना को नहीं देखते कि इनमें कैफीन , टैनिन, थीन आदि लगभग सात प्रकार के विष होते हैं,

जिनका विवरण संक्षिप्त रूप में इस प्रकार है—

- **कैफीन**— यह बहुत ही हानिकारक विष है, जिसका प्रभाव तम्बाकू में पाये जाने वाले निकोटिन के समान ही होता है। इसके प्रभाव से शरीर खोखला हो जाता है। यह हृदय की धड़कन को बहुत अधिक बढ़ा देता है तथा अधिक मात्रा में सेवन करने पर धड़कन को एकदम रोक भी देता है, जिससे मृत्यु की सम्भावना बन जाती है। कैफीन विष ही चाय का वह अंश है, जिसके नशे के वशीभूत होकर लोग चाय के आदी बन जाते हैं। चाय में विद्यमान कैफीन के कारण मूत्र की मात्रा लगभग तीन गुना हो जाती है, किन्तु शरीर का दूषित मल मूत्र द्वारा नहीं निकल पाता, जिससे गठिया, गुर्दों, तथा हृदय रोग का शिकार होना पड़ता है।

➤ **टैनिन-** इसका आमाशय (लीवर, जिगर) पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। यह पाचन शक्ति तथा नींद को नष्ट कर देता है। शरीर पर इसका प्रभाव शराब के दुष्प्रभाव से मिलता-जुलता है। इसी के प्रभाव से चाय पीने के बाद प्रारम्भ में तो ताजगी होती है, परन्तु थोड़ी देर में नशा उतर जाने पर खुश्की तथा थकान उत्पन्न होती है, जिसके कारण और अधिक चाय पीने की इच्छा होती है। टैनिन एसिड कपड़ा रंगने के काम आता है, अतः इससे आन्तों की तह भी कड़ी पड़ जाती है। चाय के अधिक उबालने पर टैनिन उतर आता है, जो इसे हानिकारक बना देता है।

➤ **थेइन-** चाय में यह २ से ३ प्रतिशत तक होता है। इसके कारण मस्तिष्क और नाड़ी तन्त्र उत्तेजित

होते हैं। चाय के पीने से जो मस्ती आती है, वह इसी क्षार के कारण है। यदि चाय में यह तत्व न हो, तो इसका क्षार गुण चला जायेगा और इसे कोई न पीयेगा।

- **वोलेन्टाइन तेल**— यह तेल नींद को नष्ट करता है, जिससे आँखों में अनेक प्रकार के रोग होते हैं। शेष अन्य विष भी इसी प्रकार हानिकारक हैं।

चाय की तरह ही कॉफी भी हानिकारक है। इसमें स्थित कैफीन की मात्रा स्वास्थ्य के लिये बहुत ही घातक है। यद्यपि कॉफी कफ और वायु दोष को दूर तो करती है, किन्तु यह शुक्र और बल को नष्ट करती है तथा खून को पानी जैसा कर देती है।

यह ध्यान रखने योग्य तथ्य है कि चाय या कॉफी

को पानी में डालकर जितना अधिक खौलाया जाता है, उतना अधिक विषैले तत्व पेय में मिलकर उसे और अधिक हानिकारक बना देते हैं, क्योंकि अग्नि के संयोग से विष की तीव्रता बहुत बढ़ जाती है।

विशेषज्ञों का कथन है कि चाय को बहुत गर्म कर देने पर वह शराब से भी अधिक हानिकारक हो जाती है। कई उफान देकर उतारी हुई चाय मस्तिष्क के कोशों (cells) को तो निष्क्रिय करती ही है, आमाशय (लीवर) एवं गुर्दों (किडनी) को भी क्षतिग्रस्त कर देती है।

यह बहुत आश्चर्यजनक बात है कि साधना से जुड़े हुए कुछ लोगों को भी बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू, गुटका, भाँग, गाँजा आदि का सेवन करते हुए देखा जाता है। जो लोग इन विषैले नशों के आदी हो चुके हैं, उन्हें शायद

इसके दुष्परिणाम का या तो पता नहीं होता या वे अपनी बुरी आदत के सामने स्वयं को लाचार मानते हैं।

गाँजा, भाँग, चरस आदि में विष भरा नशा होता ही है। तम्बाकू का सेवन गुटका, पान मसाला, बीड़ी, सिगरेट आदि के रूप में किया जाता है।

भारत में लगभग २५ करोड़ लोग तम्बाकू का सेवन करते हैं, जिसमें १० लाख लोग तम्बाकू के सेवन से मरते हैं, जबकि पूरे विश्व में लगभग ४० लाख लोग तम्बाकू के सेवन से मृत्यु के गाल में चले जाते हैं।

तम्बाकू में कई प्रकार के विष होते हैं, जिनमें निकोटिन प्रमुख है। यह जीवन के लिये बहुत घातक है। कोलतार, आर्सेनिक, अमोनिया, फिनाइल एसीटोन, डी.डी.टी., ब्यूटेल, हाइड्रोजन सायनाइड, नेप्यालिन,

कैडमियम, कार्बन मोनो आक्साइड जैसे पदार्थ जो विष के ही पर्याय हैं, तम्बाकू में होते हैं। ये विष तम्बाकू का सेवन करने वाले व्यक्ति के शरीर को जर्जर बना देते हैं।

कैंसर जैसा भयानक रोग तम्बाकू के सेवन से ही होता है। क्षय रोग (टी.बी.), दमा, ब्रोंकाइटिस (गहरी खाँसी), पक्षाघात (लकवा), रक्तचाप, और हृदय रोग जैसी बीमारियाँ तम्बाकू के कारण होती हैं। तम्बाकू के जहर से नाक, कान, जिगर, गुर्दे, फेंफड़े, मुँह, जीभ, दाँत, मसूड़े, उदर आदि रोगग्रस्त हो जाते हैं।

प्रत्येक महापुरुष और धर्मग्रन्थ ने किसी भी प्रकार के नशे (तम्बाकू, शराब, भाँग, चरस आदि) को बुरा कहा है। इसके सेवन से उच्च मानवीय गुणों का हास होता है। जिन बुराइयों से मनुष्य को बचना चाहिए, वे ही बुराइयाँ उनके जीवन में घर बना लेती हैं। क्रोध, क्रूरता,

अधीरता, कायरता, निराशा, नकारात्मक तथा विध्वंसक विचार नशे का सेवन करने वाले के अन्दर आ जाते हैं। छोटी से छोटी बात पर बिना किसी कारण के क्रोधित हो जाना एवं आलस्य, प्रमाद, तथा अकर्मण्यता के वशीभूत बने रहना तम्बाकू रूपी जहर के सेवन से ही सम्भव हो पाता है।

किसी भी प्रकार का नशा मन, बुद्धि, चित्त आदि को विकृत कर देता है। ऐसी अवस्था में सम्यक ज्ञान, सम्यक विवेक, एवं त्रिगुणातीत स्वरूप में स्थित होने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। दूसरे शब्दों में, किसी भी प्रकार का नशा आध्यात्मिक ज्ञान एवं आनन्द का शत्रु है।

५. औषधि-सेवन- ध्यान के पथ पर चलने वाले प्रत्येक साधक के लिये यह आवश्यक है कि वह अल्प

आहार करे। ऐसी अवस्था में शरीर का निर्बल होना अवश्यम्भावी है। शरीर के निर्बल हो जाने पर उसे ऐसी रसायनयुक्त दिव्य औषधियों का सेवन करना चाहिए, जो सत्त्वगुण वाली हों तथा शक्तिवर्धक भी हों।

ऐसी औषधियों में ग्रीष्म काल में ब्रह्म रसायन तथा शीतकाल में शुद्ध च्यवनप्राश उल्लेखनीय है। यह ध्यान रखना चाहिए कि भस्मों (स्वर्ण, चाँदी आदि) के योग से बने हुए स्पेशल च्यवनप्राश का प्रयोग साधक को नहीं करना चाहिए, क्योंकि वे उत्तेजक होता है। आमलकी रसायन तथा भिगोये हुए बादाम एवं मुनक्के का सेवन भी शरीर में शक्ति प्रदान करता है।

६. आसन सिद्धि- आसन दो प्रकार के होते हैं— व्यायाम आसन और ध्यान आसन।

व्यायाम आसनों द्वारा अनेक प्रकार के रोगों से निवृत्ति होती है और शरीर स्वस्थ रहता है, जैसे— भुजंगासन, शलभासन, तथा धनुरासन से कब्ज मिटती है। गर्भासन से पाचन शक्ति बढ़ती है और आँतों के रोग मिटते हैं। हलासन से मेरुदण्ड कोमल होता है। पश्चिमोत्तान आसन से चर्बी (वसा) घटती है, जठराग्नि बढ़ती है, तथा आमाशय के सभी रोगों का नाश होता है। शीर्षासन से शुक्र ओज में परिणत होता है, स्मरण शक्ति और मानसिक शक्ति बढ़ती है। वज्रासन से मेरुदण्ड सशक्त होता है तथा पाचन क्रिया ठीक रहती है।

आसन और प्राणायाम का विशद वर्णन "स्वास्थ्य के प्रहरी" नामक ग्रन्थ में है।

इस प्रकार स्वास्थ्य की दृष्टि से लगभग १०८ आसन माने जाते हैं, जिसमें से अपनी स्थिति के

अनुसार ५-२५ आसन भी यदि प्रतिदिन (प्रति आसन २ मिनट तक) किया जायें, तो शरीर को स्वस्थ रखने में बहुत सहायता मिलेगी।

दूसरे प्रकार के आसन ध्यान आसन हैं। ये इस प्रकार हैं—

१. पद्मासन २. सिद्धासन ३. स्वास्तिक आसन ४. सुखासन ५. सरलासन ६. समत्वासन आदि।

इनके विषय में योगदर्शन में कहा गया है कि "स्थिरसुखमासनं" अर्थात् जिस अवस्था में बिना हिले-डुले सुखपूर्वक आसानी से बैठा जा सके, वही आसन (ध्यानासन) है।

पूर्वोक्त ६ प्रमुख ध्यानासनों में से किसी एक आसन को अपने शरीर की प्रकृति के अनुसार चयनित करके

उसका अभ्यास करना चाहिए। संक्षेप में, इन आसनों का विवरण इस प्रकार है—

१. पद्मासन— बायें पैर को दायें पैर की जाँघ पर तथा दायें पैर को बायें पैर की जाँघ पर रखें। दोनों हाथों की हथेलियों को या तो दोनों घुटनों पर "ज्ञान मुद्रा" की अवस्था में रखें, या दोनों घुटनों के बीच में बायीं हथेली के ऊपर दायीं हथेली को रखें।

लाभ— जिस प्रकार कमल के फूल में कोमलता, सुन्दरता, निर्विकारिता (सुगन्धि), तथा जल में रहते हुए भी जल से पृथक् रहने का गुण होता है, उसी प्रकार इस पद्मासन का अभ्यास करने वाले साधक में भी ये गुण आने लगते हैं। इस आसन के अभ्यस्त व्यक्ति का शरीर कोमल बन जाता है। मेरुदण्ड सीधा रहता है तथा कमर दर्द से छुटकारा मिलता है। दोनों पैरों की एड़ियाँ दोनों

जाँघों पर स्थिर रहती हैं, जिनके दबाव से जाँघ से गुजरती हुई उन नाड़ियों पर दबाव पड़ता है जो शुक्रवाहिनी नाड़ी से जुड़ी होती हैं। परिणामतः ब्रह्मचर्य साधना में यह आसन अति उपयोगी हो जाता है। इसको सिद्ध करने पर साधक में निर्विकारिता आ जाती है और वह विषयों से परे होकर गहन ध्यान में डूबने लगता है। इससे मन की एकाग्रता स्वाभाविक ही होने लगती है।

इस आसन का निष्ठापूर्वक अभ्यास भोगी को भी योगी बनाने का सामर्थ्य रखता है। यह पूर्णतया सात्विक आसन है, अर्थात् इससे सात्विक मनोवृत्तियाँ जाग्रत होने लगती हैं, और हृदय में माधुर्य भाव की प्रबलता हो जाती है। इसलिये यही चितवनि के लिये सर्वोत्तम है। पद्मासन की सिद्धि और सात्विक आहार से समाधि तक पहुँचने का ४५% मार्ग पूर्ण हो जाता है। इसलिए भगवान

शिव, भर्तृहरि, गौतम बुद्ध, महावीर, ऋषि दयानन्द, विवेकानन्द, महाअवतार बाबा, लाहिड़ी महाशय आदि महान योगियों का यह प्रिय आसन रहा है।

द्रष्टव्य- मोटे शरीर वाले या जिनकी माँसपेशियां अधिक कठोर होती हैं, उन्हें इस आसन को करने में प्रारम्भ में कठिनाई होती है। ऐसी स्थिति में उन्हें या तो नमक का सेवन कुछ समय के लिये बन्द कर देना चाहिए या बहुत कम कर देना चाहिए। नारियल के तेल की मालिश भी माँसपेशियों को कोमल बनाती है।

प्रारम्भ में, दोनों जाँघों के ऊपर अपने पैरों की एड़ियों को सहज स्थिति में कोमलतापूर्वक इस प्रकार रखें कि किसी भी प्रकार तनाव या दर्द न हो। कुछ समय के अभ्यास के पश्चात् तो पद्मासन में बैठने पर ऐसा प्रतीत होगा कि जैसे हम शय्या पर आरामपूर्वक सो रहे

हैं।

२. सिद्धासन- बायें पैर की एड़ी को सीवनी अर्थात् गुदा और उपस्थेन्द्रिय के बीच में इस प्रकार दृढ़ता से लगायें कि उसका तला दायें पैर की जँघा को स्पर्श करे। इसी प्रकार दाहिने पैर की एड़ी को उपस्थेन्द्रिय की जड़ के ऊपरी भाग में इस प्रकार लगावें कि उसका तला बायें पैर की जँघा को स्पर्श करे। इसके बाद बायें पैर के अँगूठे तथा तर्जनी अँगुली को दायी जँघ और पिण्डली के बीच में ले लें। इसी प्रकार दायें पैर के अँगूठे और तर्जनी अँगुली को बायीं जँघा तथा पिण्डली के बीच में ले लें। शरीर का भार एड़ी और सीवनी के बीच की ही नस पर तुला रहना चाहिए।

लाभ- यद्यपि यह आसन ब्रह्मचर्य के लिये उपयोगी है, किन्तु उन्हीं के लिये विशेष लाभदायक है जो प्रायः

जनसमूह से दूर एकान्त में रहते हैं और जिनके मन में बुरे विचार नहीं आते हैं। इस आसन पर बैठकर विषय का चिन्तन करना स्वयं को पतन की गर्त में ढकेलना है, क्योंकि बायें पैर की एड़ी शुक्रवाहिनी नाड़ी से जुड़ी होती है। इस अवस्था में (विषय चिन्तन करने पर) मनोविकारों के अत्यधिक प्रबल होने की सम्भावना रहती है। वस्तुतः यह रजोगुण प्रधान है और हठयोग के अनुयायियों के लिये अधिक लाभकारी है। इस आसन में पुरुष भाव बने रहने की सम्भावना अत्यधिक रहती है, इसलिये यह चितवनि की दृष्टि से उपयोगी नहीं है।

किन्तु यदि विषयों से मन को हटाकर इस आसन द्वारा ध्यान किया जाये, तो यह आसन साधक को सम्प्रज्ञात समाधि के शिखर तक भी पहुँचा सकता है। नीचे से मूलबन्ध द्वारा मूल द्वार (गुदा द्वार) बन्द होने के

कारण कुण्डलिनी शक्ति के जागरण में इससे बहुत सहायता मिलती है, क्योंकि प्राण बहुत तेजी से सुषुम्ना में प्रवाहित होने लगते हैं। संक्षेप में, यह आसन ऊँचे संस्कार वाले योगियों के लिये ही अधिक लाभकारी है। सामान्य साधक, जिनका मन विषयों में भटकता रहता है, इसे न करें तो अच्छा है।

इस आसन के करने से शरीर की सभी नाड़ियाँ शुद्ध होती हैं तथा लम्बे समय (कई दिनों) तक भी समाधि लगाये रहने पर शरीर शुद्ध रहता है और रक्त का संचार बना रहता है।

विशेष— पद्मासन, सिद्धासन, और स्वस्तिकासन में रक्त का संचार सम्पूर्ण शरीर में विधिवत् होता रहता है, क्योंकि पैरों की एड़ियों से नाड़ियों पर दबाव बना रहता है। सुखासन, सरलासन, एवं समत्वासन में इतना

अधिक दबाव न होने से शिर आदि में रक्त संचार कम होता है, जिससे कफ दोष वालों को लम्बे समय तक बैठने में कुछ परेशानी हो सकती है, किन्तु पित्त प्रकृति वालों के लिये सुखासन, सरलासन, एवं समत्वासन ज्यादा उपयुक्त है। इसी प्रकार, सिद्धासन कफ दोष वालों के लिये सर्वोपरि है। इसके पश्चात् क्रमशः स्वास्तिक और पद्मासन आते हैं। पद्मासन में शीत-उष्ण की समावस्था रहती है, अर्थात् यह आसन कफ, पित्त, वात आदि सभी अवस्थाओं में लाभदायक है।

३. स्वास्तिक आसन- इस आसन में बायें पैर की एड़ी को उपस्थेन्द्रिय के दक्षिण भाग में तथा दायें पैर की एड़ी को उपस्थेन्द्रिय के बायें भाग में दृढ़तापूर्वक स्थापित करें। पाँवों की अँगुलियों को जाँघ तथा पिण्डलियों के बहिर्भाग में रखें। इसके पश्चात् कमर ,

गर्दन, मेरुदण्ड, एवं मस्तक को सीधा करके बैठें। हाथों की सुविधानुसार, अँगुलियों को परस्पर फँसाकर पावों के ऊपर रखें या ज्ञानमुद्रा लगाकर दोनों जानुओं पर रखें।

लाभ- यह आसन ध्यान-समाधि में बहुत उपयोगी है। बहुत सरल होने के कारण इसका अभ्यास कोई भी कर सकता है।

४. सुखासन- बायें पैर को मोड़कर स्थिर कर देते हैं। इसके पश्चात् दायें पैर को मोड़कर बायें पैर पर इस प्रकार रखते हैं कि दायें पैर की एड़ी बायें पैर की जाँघ के मूल से लगी हो।

लाभ- इस आसन में बहुत सुखपूर्वक बैठा जाता है, इसलिये इसका नाम ही सुखासन है। इसमें लम्बे समय तक बैठकर ध्यान-साधना की जा सकती है।

५. सरलासन- दोनों पैरों को एक-दूसरे के ऊपर सरल रेखा में रख देने पर आसन का रूप हो जाता है। यह आसन अति सरल है। इसे बाल, वृद्ध, यहाँ तक कि रोग से जर्जर शरीर वाले लोग भी आसानी से कर सकते हैं। इस आसन में किसी भी पैर को एक-दूसरे के ऊपर रख सकते हैं।

लाभ- इस आसन द्वारा साधना के अतिरिक्त धार्मिक सभाओं में भी जमीन पर घण्टों बैठे रह सकते हैं। इस आसन द्वारा मेरुदण्ड को भी सीधा रखा जा सकता है।

६. समत्वासन- इस आसन में दोनों पैरों की एड़ियों के ऊपर जाँघों का वजन डाला जाता है, अर्थात् बायें पैर की एड़ी के ऊपर दायीं जाँघ तथा दायें पैर की एड़ी के ऊपर बायें पैर की जाँघ को रखा जाता है। दोनों

एड़ियाँ विपरीत पैरों के घुटनों के नीचे होनी चाहियें।

लाभ- इस आसन में भी सरलासन के सभी गुण हैं। इसके द्वारा बहुत आसानी से लम्बे समय तक बैठा जा सकता है।

आसन सिद्धि- जब साढ़े तीन घण्टे (२१० मिनट) तक बिना हिले, डुले, और उठे हुए लगातार बैठे रहा जाये, तो उसे आसन की सिद्धि कहते हैं। आसन की सिद्धि के लिये यह आवश्यक है कि जितनी देर तक सामान्य रूप से बैठ सकते हैं, उतनी ही देर तक बैठने से प्रारम्भ करें और प्रत्येक दूसरे दिन २ मिनट की वृद्धि करें। इस प्रकार, प्रत्येक माह में आधे घण्टे की वृद्धि हो जायेगी। यदि आप प्रारम्भ में आधा घण्टे तक बैठते हैं, तो इस विधि का प्रयोग करके मात्र छः माह में ही साढ़े तीन घण्टे तक बैठने में सफलता प्राप्त कर सकते हैं।

ततो द्वन्द्वानभिधातः।

योग दर्शन २/४८

अर्थात् आसन की सिद्धि हो जाने पर भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि द्वन्द्वों को सहने की क्षमता आ जाती है।

बिना आसन सिद्धि के ध्यान सम्भव नहीं है , इसलिए दर्शन में कहा है कि "आसीनः सम्भवात्" अर्थात् दृढ़ासीन (आसन पर दृढ़ता से बैठा हुआ) व्यक्ति ही ध्यान-समाधि तक पहुँच सकता है। जो लोग लेटे-लेटे या चलते-फिरते ध्यान करने की बातें करते हैं, वह मात्र भावलीनता है, ध्यान नहीं। ऐसा कहने वाले लोग स्वयं को धोखे में रख रहे होते हैं। श्री देवचन्द्र जी का मात्र आसन (हाथ) हिल जाने से ध्यान भंग हो गया था और दर्शन लीला भी बन्द हो गयी। इसलिये प्रियतम परब्रह्म का साक्षात्कार करने के लिये आसन की सिद्धि अत्यावश्यक है।

७. पूर्ण प्राणायाम सिद्धि—

तस्मिन्सतिश्वासप्रश्वासयोर्गति विच्छेदः प्राणायामः।

योग दर्शन २/४९

अर्थात् श्वास-प्रश्वास की गति को भंग करके पूरक, कुम्भक, तथा रेचक करने का नाम प्राणायाम है। मन का प्राण के साथ अटूट सम्बन्ध है। जहाँ मन रुक जाता है, वहाँ प्राण की गति भी रुक जाती है, तथा जहाँ प्राण स्थिर हो जाता है, वहाँ मन भी स्थिर हो जाता है।

प्राणो विलीयते यत्र मनः तत्र विलीयते।

यत्र मनो विलीयते तत्र प्राणः विलीयते॥

इसलिये ध्यान-समाधि तक पहुँचने के लिये प्राणायाम की पूर्ण सिद्धि आवश्यक है। मनुस्मृति में कहा गया है—

दह्यन्ते ध्यायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।

तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषा प्राणस्य निग्रहात्॥

जिस प्रकार अग्नि में तपाने से सोना, चाँदी, ताम्बा आदि धातुओं के मल (अशुद्धियाँ) समाप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार प्राणायाम के अभ्यास से इन्द्रियों के विकार नष्ट हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में पंचशिख आचार्य ने भी कहा है— "तपो न परं प्राणयामात्" अर्थात् प्राणायाम से बढ़कर कोई तप नहीं है।

धारणा-ध्यान के लिये मन का शान्त होना अति आवश्यक है, इसलिये इसके पूर्ण अभ्यास एवं सिद्धि का सतत् प्रयास करना चाहिए।

योग दर्शन के अनुसार प्राणायाम मुख्यतः चार प्रकार के होते हैं—

१. **बाह्य प्राणायाम**— श्वास को बाहर फेंक कर बाहर ही रोक देना बाह्य प्राणायाम है।

२. **आभ्यन्तर**— श्वास को अन्दर लेकर अन्दर रोकना आभ्यन्तर प्राणायाम है।

३. **स्तम्भवृत्ति**— बाहर की श्वास को बाहर तथा अन्दर की श्वास को अन्दर ही रोक देना स्तम्भवृत्ति प्राणायाम है।

४. **बाह्य आभ्यन्तर आक्षेपी प्राणायाम** — इस प्राणायाम में एक बार श्वास को बाहर रोक दिया जाता है, तो एक बार अन्दर। दाहिने नथुने से श्वास भरकर (पूरक करके) जब अन्दर रोका जाता है, तो बायें नथुने से छोड़कर (रेचक करके) बाहर रोका जाता है। इसी प्रकार पुनः बायें नथुने से श्वास भरकर अन्दर रोका (कुम्भक

किया) जाता है और दाहिने नथुने से छोड़कर बाहर रोका जाता है।

इन्हीं चार प्रमुख प्राणायामों को आधार मानकर हठयोग में अनेक प्रकार के प्राणायाम बताये गये हैं, जो संक्षेप में इस प्रकार हैं—

१. नाड़ी शोधन— कोई भी प्राणायाम करने से पहले यह प्राणायाम किया जाता है। इसमें किसी भी एक (दाये अथवा बायें) नथुने से श्वांस को धीरे-धीरे खींचा जाता है तथा दूसरी ओर से धीरे-धीरे छोड़ दिया जाता है। इसी प्रकार, दूसरी ओर से धीरे-धीरे श्वांस लेकर पहले नथुने की ओर से धीरे-धीरे खींचा छोड़ दिया जाता है। यह प्राणायाम नाड़ियों को शुद्ध करने वाला है।

२. सूर्य भेदी— इस प्राणायाम में दाहिने (सूर्य) पुट

से श्वांस लेकर (पूरक करके) आभ्यान्तर कुम्भक किया जाता है, तत्पश्चात् उसे बायें पुट (नथुने) से धीरे-धीरे छोड़ दिया जाता है। इससे शरीर में गर्मी बढ़ती है। शीत से रक्षा के लिये यह उपयोगी है।

३. चन्द्रभेदी- यह प्राणायाम शीतलता उत्पन्न करने के लिये किया जाता है। इसमें बायें (चन्द्र) पुट से पूरक करके आभ्यान्तर कुम्भक किया जाता है और दाहिने स्वर से रेचक किया (श्वांस छोड़ा) जाता है। इस प्राणायाम का प्रयोग मात्र ग्रीष्म काल में गर्मी को कम करने लिये किया जा सकता है।

४. उज्जायी- इस प्राणायाम में सर्वप्रथम दोनों नासिका छिद्रों से श्वांस को बाहर निकाल दिया जाता है। इसके पश्चात् दोनों छिद्रों से पुनः गहराईपूर्वक श्वांस को भरा (पूरक किया) जाता है। यथासम्भव कुम्भक कर

लेने के पश्चात् वाम नासिका पुट (नथुने) से रेचक कर दिया जाता है। इसके बाद पुनः दोनों स्वरों से श्वांस को भरकर आभ्यान्तर कुम्भक करना चाहिये तथा दाहिने स्वर से रेचक करना (श्वांस को बाहर निकालना) चाहिए। प्रतिदिन ३-६ बार इसका अभ्यास करने से मस्तिष्क की उष्णता दूर हो जाती है, विचार शक्ति बढ़ती है, तथा फेफड़े मजबूत बन जाते हैं। कफ प्रकोप, उदर रोग, एवं मन्दाग्नि में भी इससे विशेष लाभ होता है।

५. भ्रामरी- सर्वप्रथम, वाम नासिका पुट से वायु भरकर भ्रमर के गुँजन के समान मीठी और सुरीली आवाज करते हुए दोनों नासिका पुटों से रेचक करना चाहिए। पुनः दायें नासिका पुट से श्वांस भरकर पूर्ववत् गुँजन करते हुए दोनों नासिका छिद्रों से रेचक कर देना चाहिए। इस प्राणायाम के अभ्यास से सुषुम्ना नाड़ी शुद्ध

होती है।

६. सीत्कारी- अपने अभ्यस्त आसन पर बैठकर दाँतों की दोनों पंक्तियों को परस्पर मिलाया जाता है। तत्पश्चात् मुख से अन्दर श्वास लेकर बिना कुम्भक किये ही दोनों नासिका छिद्रों से रेचक कर दिया जाता है। यह प्राणायाम भी शीतलता के लिये किया जाता है। इससे रक्त का शोधन होता है तथा चित्त शान्त होता है।

७. प्लाविनी- इस प्राणायाम को सिद्ध करने के लिये अपने अभ्यस्त आसन पर बैठकर दोनों नासिका छिद्रों से वायु भरी जाती है और उदर में ले जाकर आभ्यान्तर कुम्भक किया जाता है। इसके बाद दोनों नासिका छिद्रों से रेचक कर दिया जाता है।

इस प्राणायाम के अभ्यास से जल के ऊपर चलने

की सिद्धि प्राप्त हो जाती है। यदि साधक पद्मासन लगाकर जल के ऊपर लेट भी जाता है, तो भी वह डूबता नहीं है।

८. कपालभाति- अपने अभ्यस्त आसन पर बैठकर मेरुदण्ड को सीधा रखते हुए नासिका के दोनों छिद्रों से वायु को धीरे-धीरे बाहर फेंका जाता है। इसमें छाती का ही विशेष उपयोग होना चाहिए, पेट का नहीं। नाड़ी शोधन प्राणायाम के पश्चात् यह प्राणायाम करना चाहिए। खाँसी और दमा के रोगियों के लिये यह बहुत उपयोगी है।

सावधानियाँ- प्राणायाम करते समय इन बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए-

- हमेशा अपने अभ्यस्त आसन (पद्मासन, सिद्धासन,

सुखासन, सरलासन, या समत्वासन) पर ही बैठकर प्राणायाम करें, लेटे-लेटे, खड़े-खड़े, या चलते-फिरते प्राणायाम न करें।

➤ मेरूदण्ड सहित सम्पूर्ण पीठ एवं गर्दन को सीधा रखें। कमर की झुकी अवस्था में प्राणायाम करना उचित नहीं है।

➤ भोजन से एक घण्टे पूर्व ही प्राणायाम कर लेना चाहिए। प्राणायाम करके तुरन्त पानी पीने या भोजन करने से पेट में दर्द हो सकता है।

➤ भोजन करने के लगभग ५ घण्टे बाद ही प्राणायाम करना चाहिए। खाली पेट प्राणायाम करना सर्वोत्तम होता है।

➤ नाड़ी शोधन और कपालभाति प्राणायाम किये बिना

अन्य कोई भी प्राणायाम न करें।

- कुम्भक करने में जबरदस्ती न करें। स्वाभाविक रूप से जितनी देर श्वांस रुक सकती है, उतनी ही देर तक रोकें।
- रेचक एवं पूरक की क्रिया को कभी भी बलपूर्वक न करें।
- हाथों की अँगुलियों एवं अँगूठों से नासिका के छिद्रों को बन्द न करें। अपने संकल्प बल से श्वांस को लेने (पूरक), छोड़ने (रेचक), एवं रोकने (कुम्भक) का अभ्यास करें।

८. पूर्ण पुरुषार्थ – सृष्टि का प्रत्येक कण (अणु-परमाणु) गतिशील है। उनकी गति के बन्द होते ही महाप्रलय हो जायेगा। जब इस जड़ प्रकृति में ब्रह्म के

संकल्प द्वारा गति (क्रियाशीलता) है, तो बुद्धिमान कहे जाने वाले मानव से निष्क्रियता या निठल्लेपन की बात आश्चर्य में डालने वाली है।

कठोपनिषद् का यह कथन अक्षरशः सत्य है कि "यमः एवं एष वृणते तेन लभ्यः" अर्थात् परमात्मा जिसका वरण (चयन) करता है, वही उसको प्राप्त कर पाता है। किन्तु परमात्मा द्वारा चयनित होने की पात्रता प्राप्त करना हमारा नैतिक कर्त्तव्य है। इसी कर्त्तव्य पथ का पालन ही पुरुषार्थ है।

जब हम भौतिक सुखों को पाने के लिये कोल्हू के बैल की तरह काम करते हैं, तो आत्मिक लक्ष्य को पाने के लिये अपने शरीर, इन्द्रियों, अन्तःकरण, एवं आत्मा को प्रियतम परब्रह्म को पाने की राह पर क्यों नहीं लगाते?

परमात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी के सहारे हाथ पर हाथ धरे बैठे रहना तुष्टि है। यह चार प्रकार की होती है—

१. प्रकृति तुष्टि— आत्मा को प्रकृति से अलग जानते हुए भी इस भरोसे पर आत्म-साक्षात्कार के लिये ध्यान-समाधि का अभ्यास नहीं करना कि प्रकृति पुरुष के भोग-अपवर्ग के लिये स्वयं प्रवृत्त हो रही है। इसलिये भोग के समान अपवर्ग (मोक्ष) भी अपने आप ही प्राप्त हो जायेगा। यह प्रकृति तुष्टि है। यह भरोसा इसलिये झूठा है कि प्रकृति पुरुष की इच्छा के अधीन चल रही है। जब वह स्वयं सन्तुष्ट होकर मोक्ष के साधन से अलग हो रहा है, तो प्रकृति उसके लिये क्या कर सकती है?

२. उपादान तुष्टि— इस भरोसे पर कि सन्यास ग्रहण कर लेने मात्र से अपवर्ग (मोक्ष) स्वयं मिल जायेगा,

उसके लिये उपाय न करना, उपादान तुष्टि है। इस प्रकार की धारणा मिथ्या है, क्योंकि सन्यास तो मात्र आश्रम का एक चिन्ह है। सन्यास लेकर भी ब्रह्म-साक्षात्कार करने के लिये धारणा-ध्यान-समाधि का अभ्यास तो सबको अनिवार्य रूप से करना ही पड़ेगा।

३. काल तुष्टि- इस अन्धविश्वास पर साधना न करना कि समय पाकर मुक्ति स्वतः ही प्राप्त हो जायेगी, काल तुष्टि कहलाती है। काल (समय) का भरोसा करना झूठा है, क्योंकि यह सभी कार्यों में समान रूप से सहभागी है। उन्नति के साथ अवनति (पतन) से भी काल का समान सम्बन्ध है। अतः आध्यात्मिक उन्नति के लिये पुरुषार्थ करना अनिवार्य है।

४. भाग्य तुष्टि- इस भरोसे पर साधना न करना कि यदि भाग्य में होगा तो स्वयं तत्त्वज्ञान प्राप्त होकर मुक्ति

हो जायेगी। इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिये यत्न न करना भाग्य तुष्टि कहलाती है। इस प्रकार का विश्वास करना पूर्णतया झूठा है, क्योंकि भाग्य भी पुरुषार्थ से ही बना होता है।

निःसन्देह निष्क्रियता की चादर ओढ़े रहना आलस्य एवं प्रमाद के कारण है, जो तमोगुण की देन है। अध्यात्म के सच्चे पथिक को रज और तम के मार्ग का परित्याग कर सात्त्विक भावों में प्रेम, विरह, और ध्यान की राह का अवलम्ब करना चाहिए। श्री महामति जी के शब्दों में—

पेहेन पाखर गज घंट बजाए चल, पैठ सकोड़ सुई नाके समाए।

डार आकार संभार जिन ओसरे, दौड़ चढ़ पहाड़ सिर झांप खाए॥

कलस हि. ३/६

हे मेरी आत्मा! जिस प्रकार हाथी के ऊपर लोहे का जालनुमा सुरक्षा कवच (पाखर) पहनाया गया होता है, जिससे वह तीर, तलवार आदि अस्त्र-शस्त्रों से सुरक्षित रहता है, उसी प्रकार तू भी धनी की मेहर या कृपा रूपी चादर को ओढ़ ले। तू इधर-उधर की बातों को न सुन। सुई के छोटे से छिद्र में धागा डालने की तरह तू अन्तर्मुखी होकर अपने धाम-हृदय में विराजमान प्रियतम को निहार। तू अपने शरीर की चिन्ता न कर और विरह के पर्वत की चोटी पर चढ़कर प्रियतम के प्रेम में छल्लाँग लगा दे।

इन्हीं भावों से मिलता-जुलता कथन और भी है—

महामति कहे पीछे न देखिए, नही किसी की परवाहे।

एक धाम हिरदे में लेयके, उड़ाए दे अरवाहे।।

किरंतन ८७/१३

केवल ज्ञान को कहने एवं प्रियतम की महिमा गाने से जीवन का परम लक्ष्य प्राप्त नहीं होता। इस सम्बन्ध में आत्मा को सावधान करते हुए श्री महामति जी कहते हैं—

रे रूह करे ना कछू अपनी, के तू उरझी उम्मत मांहें।

उमर गई गुन सिफत में, तोहे अजूं इस्क आया नांहें॥

खिलवत १०/१

मेरी आत्मा! तू कब तक जागनी कार्य में उलझी रहेगी? अपने आत्मिक आनन्द के लिये तो तू कुछ तो कर (ध्यान कर)। धनी की महिमा को मुख से कहते— कहते इतनी उम्र बीत गयी है, फिर भी तुझे अभी तक प्रेम का रस नहीं मिला।

सूता होए सो जागियो, जाग्या सो बैठा होए।

बैठा ठाड़ा होइयो, ठाढ़ा पांउ भरे आगे सोए॥

किरंतन ८६/१८

जो अब तक अज्ञान की निद्रा में सो रहे थे, वे ज्ञान द्वारा जाग्रत हो जायें। ज्ञान से जगे हुए ईमान (अटूट विश्वास) लेकर बैठ जायें। बैठे हुए विरह का रस लेकर खड़े हो जायें, तथा खड़े हुए प्रेम लेकर धनी को पाने के लिये दौड़ लगायें।

यों तैयारी कीजियो, आगूं करनी है दौड़।

सब अंगों इस्क लेय के, निकसो ब्रह्मांड फोड़॥

किरंतन ८६/१९

हे मेरी आत्मा! तुझे भाग्य के भरोसे बैठे नहीं रहना है, बल्कि धनी को पाने के मार्ग पर तेज दौड़ लगानी है।

निठल्लापन एक अक्षम्य अपराध है। तू अपने दिल में धनी का प्रेम लेकर इस ब्रह्माण्ड से परे अपनी दृष्टि को ले चल तथा बेहद को पार कर निजधाम में अपने प्राणवल्लभ का दीदार कर।

॥ इसके साथ ही यह चतुर्थ तरंग पूर्ण हुई ॥



पंचम तरंग

चितवन (चितवनि) की विधि

संसार में ध्यान की अलग-अलग पद्धतियाँ हैं, जो समय-समय अनेक मनीषियों द्वारा विकसित की गयी हैं, किन्तु परम सत्य तो सर्वदा एक ही होता है।

"देशबन्धः चित्तस्य नाम धारण" (योग दर्शन) के कथनानुसार चित्त को कहीं पर बाँधने का नाम धारणा है। जब चित्त साढ़े चार (४:३०) घण्टे तक लगातार बँधा रहे, तो वह धारणा है, ५:३० घण्टे तक बँधे रहने पर ध्यान है, तथा ६:३०-७:०० घण्टे तक केवल लक्ष्य का ही भासित रहना समाधि है, चितवनि है।

जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है कि आत्मिक दृष्टि से देखना ही चितवनि है। इसमें मन ,

चित्त, और बुद्धि की कोई प्रक्रिया नहीं होती।

किन्तु इसे शून्य समाधि नहीं मान लेनी चाहिए। बल्कि चितवनि में प्रेम द्वारा मन, चित्त, बुद्धि निष्क्रिय हो जाते हैं, तथा आत्मा अपनी अन्तर्दृष्टि से सम्पूर्ण परमधाम तथा परब्रह्म के युगल स्वरूप का साक्षात्कार करती है।

धारणा का दार्शनिक आधार— तारतम ज्ञान के अवतरित होने से पहले दीपक की ज्योति, ज्योतिर्बिन्दु, ज्योतिर्मय उँकार, श्वांस, या किसी चित्र या मूर्ति को धारणा का आधार लिया जाता रहा है, किन्तु इनमें उँकार को छोड़कर सभी जड़ पदार्थ हैं। जड़ पदार्थ के ध्यान से चेतन ब्रह्म का साक्षात्कार हो पाना सम्भव नहीं है।

जब रुई आदि हल्के पदार्थों में संयम (धारणा, ध्यान, और समाधि) करने से साधक भी हल्का होकर आकाशगमन कर सकता है, चन्द्रमा में संयम करने से तारामण्डल का साक्षात्कार होता है, तथा हाथी आदि में संयम करने पर हाथी आदि का बल साधक में आ जाता है, तो जड़ मूर्ति, चित्र, ज्योति, या श्वास में संयम करने पर सच्चिदानन्द परब्रह्म का साक्षात्कार कैसे हो सकता है?

यदि यह संशय किया जाये कि रामकृष्ण परमहंस तो काली जी की मूर्ति का ध्यान करते-करते निर्बीज समाधि तक पहुँच गये, तो ज्योति का ध्यान करके ब्रह्म का साक्षात्कार क्यों नहीं किया जा सकता?

इसका समाधान इस प्रकार है—

काली मन्दिर का पुजारी होने के कारण श्री रामकृष्ण जी काली जी के भावों में खोये रहते थे , इसलिये संकल्प-विकल्प का अभाव न होने के कारण वे समाधि अवस्था को प्राप्त नहीं हो पा रहे थे। इस समस्या के समाधान के लिये उनके गुरु तोतापुरी जी ने उनके माथे (त्रिकुटी) में शीशा धँसा दिया और वहीं पर मन को एकाग्र करने के लिये कहा।

इस प्रकार त्रिकुटी में मन को एकाग्र करते -करते सात्विकता के प्रबल प्रवाह में श्री रामकृष्ण जी समाधिस्थ हो गये और अपनी निर्विकारिता, समर्पण, तथा भक्ति के प्रबल भावों द्वारा उन्होंने असम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त कर लिया। जड़ मूर्ति की धारणा एवं ध्यान से असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति नहीं हो सकती।

निजानन्द योग में धारणा का आधार- धारणा से पहले "प्रत्याहार" अर्थात् मन एवं इन्द्रियों को अन्तर्मुखी करने की प्रक्रिया अपनायी जाती है। इसके लिये एक पवित्र आसन (कम्बल, कुश, कोमल चद्वर आदि) पर बैठकर पद्मासन, सुखासन, सरलासन, या समत्वासन की मुद्रा में तारतम का मौन जप किया जाता है। इसके साथ ही साथ परब्रह्म का साक्षात्कार करने वाले किसी ब्रह्ममुनि की आकृति का भी चिन्तन किया जाता है।

जप करते समय यह ध्यान रखा जाता है कि जीभ तथा होंठ हिले नहीं, बल्कि शब्दों का प्रवाह सीधे हृदय से पुकार के रूप में आये।

परब्रह्म सभी आत्माओं के आधार हैं, इसलिये उन्हें प्राणनाथ कहा जाता है। श्री महामति जी ने जब अक्षरातीत परब्रह्म का साक्षात्कार करके उन्हें अपने

धाम-हृदय में बसा लिया, तो महामति जी को भी प्राणनाथ ही कहा गया, क्योंकि दोनों (आत्मा और परब्रह्म) का स्वरूप "ब्रह्मविदो ब्रह्मेव भवति" के आधार पर एक हो गया।

श्री प्राणनाथ जी द्वारा अवतरित तारतम की छः चौपाइयों का भाव इस प्रकार है—

क्षर, अक्षर से परे आप वह अनादि अक्षरातीत हैं, जो निराकार के परे बेहद और अक्षर धाम से भी परे हैं। आपकी आह्लादिनी शक्ति श्यामा जी हैं। हे प्रियतम् अक्षरातीत! आप मुझ आत्मा को अपने प्रेम का अमृत रस प्रदान कीजिए। उसका ज्ञान मैं अन्य आत्माओं तक यदि पहुँचा देती हूँ, तभी मैं ब्रह्मात्मा कहलाने की अधिकारिणी (हकदार) हूँ।

किसी परमहंस ब्रह्ममुनि का चिन्तन योगदर्शन के कथन "वीतराग विषयं वा चित्तम्" के अनुकूल है। इस प्रकार तारतम के जप एवं ब्रह्मनिष्ठ परमहंस की धारणा से मन अन्तर्मुखी हो जाता है। इसके पश्चात् अक्षरातीत के युगल स्वरूप एवं परमधाम की धारणा की जाती है।

युगल स्वरूप की धारणा— पतञ्जलि के योग दर्शन में सम्प्रज्ञात समाधि द्वारा प्रकृति के सूक्ष्म रूप "अस्मिता" का साक्षात्कार होता है।

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रजातः।

योग दर्शन १/१७

इस अस्मिता से परे सूक्ष्म प्रकृति है, जिसका अनुभव असम्प्रज्ञात समाधि में होता है और सर्व वृत्तियों का निरोध होकर अपने आत्म-स्वरूप में स्थिति होती

है। सम्प्रज्ञात समाधि तक पहुँचने के लिये धारणा में अनेक रूपों (दीपक की ज्योति, सूर्य, शब्द, श्वास आदि) का आधार लिया जाता है, जो त्रिगुणात्मक प्रकृति के ही कार्य रूप हैं। असम्प्रज्ञात समाधि निरालम्ब (बिना किसी का आधार लिये) होती है। विपश्यना में भी इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिये श्वास को धारणा का आधार बनाया जाता है और संवेदनाओं को द्रष्टा होकर देखने का अभ्यास करते-करते योग दर्शन में कथित "वशीकार संज्ञा" की अवस्था प्राप्त की जाती है।

प्रायः सभी अध्यात्मवादी इस बात पर सहमत हैं कि आत्मा और परमात्मा का स्वरूप त्रिगुणातीत होने से प्रकृति के सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, विद्युत आदि की ज्योति से सर्वथा भिन्न विशुद्ध ज्योतिर्मयी है, किन्तु शब्दातीत है।

निजानन्द योग की मुख्य विशेषता यही है कि इसमें प्रकृति के किसी भी पदार्थ को आधार मानकर धारणा नहीं की जाती। हठयोग एवं राजयोग आदि में जहाँ संयम द्वारा क्रमशः, पञ्चभूतो, सूक्ष्मभूतों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध), मन, बुद्धि, अहंकार, तथा प्रकृति का साक्षात्कार किया जाता है, वहीं निजानन्द योग में प्रारम्भ में ही इनको छोड़ दिया जाता है तथा आत्मिक संकल्प से अपनी आत्मिक दृष्टि को अष्टधा प्रकृति (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार) से परे ले जाकर बेहद मण्डल में प्रवेश करते हैं।

तत्पश्चात् उसे भी पार कर परमधाम में विराजमान अक्षरातीत परब्रह्म के उस युगल स्वरूप को धारणा में प्रयुक्त करते हैं, जिसके रोम-रोम में असंख्य सूर्यों का तेज है और असंख्य चन्द्रमा जैसी चैतन्यमयी शीतलता

है, जिसके अंग-अंग में सौन्दर्य का सागर लहरा रहा है। विरह-प्रेम के भावों की गहराई में यही धारणा, ध्यान, और समाधि के रूप में परिवर्तित हो जाती है, जिसमें परब्रह्म का युगल स्वरूप स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होने लगता है।

यहाँ यह संशय होता है कि जब परब्रह्म के त्रिगुणातीत स्वरूप का वर्णन किसी भी ग्रन्थ में नहीं है, तो उनके नूरमयी (प्रकाशमयी) किशोर स्वरूप का आधार लेकर धारणा करना क्या कल्पना नहीं है? कहीं ऐसा तो नहीं है कि शुद्ध अवस्था में चित्त ही उसी रूप में भासित होने लगता है?

इसका संक्षिप्त उत्तर इस प्रकार है—

जब श्री महामति जी के अन्दर परब्रह्म का आवेश

स्वरूप विराजमान हुआ, तो उस स्वरूप द्वारा ही परब्रह्म की अलौकिक शोभा का वर्णन सम्भव हो सका, अन्यथा त्रिगुणातीत स्वरूप का वर्णन इस संसार में मानवीय बुद्धि से हो पाना सम्भव नहीं है। महामति जी की आत्मा ने परब्रह्म की युगल शोभा को जिस रूप में देखा, वह तारतम वाणी के सागर व श्रृंगार ग्रन्थ में वर्णित है। धारणा के रूप में उसका आधार लेना कोई कल्पना नहीं, बल्कि वास्तविकता है।

चित्त की उत्पत्ति समष्टि चित्त मण्डल से हुई है, जो महत् (सत्त्व, रजस, तमस्) से प्रकट हुआ है। अपने मूल रूप में चित्त एक जड़ पदार्थ है, क्योंकि वह प्रकृति का कार्य रूप है, किन्तु जीव की चैतन्यता से उसमें भी चैतन्यता बनी रहती है। जब प्रकृति के किसी जड़ पदार्थ (प्रकाश, दीपक की लौ, ज्योतिर्बिन्दु आदि) को धारणा

के रूप में प्रयुक्त किया जाता है, तो चित्त का उसी रूप में भासित होना स्वाभाविक है, किन्तु स्वलीला अद्वैत सच्चिदानन्द परब्रह्म के रूप में चित्त ही भासित होने लगे, यह कदापि सम्भव नहीं है। इतना अवश्य होता है कि निर्मल चित्त रूपी दर्पण में प्रियतम परब्रह्म की छवि शोभायमान होने लगती है। इसे तारतम वाणी के इस सन्दर्भ से समझा जा सकता है—

ताथे हिरदे आतम के लीजिए, बीच साथ सरूप जुगल।

सुरत न दीजे टूटने, फेर फेर जाइए बल बल॥

सागर ११/४६

अन्तस्करन आतम के, जब ए रह्यो समाए।

तब आतम परआतम के, रहे न कछू अन्तराए॥

सागर ११/४४

जिस प्रकार जल को गिलास, लोटा, थाली आदि जिस भी बर्तन में डाला जाता है, वह भी वैसी आकृति को धारण कर लेता है। उसी प्रकार चित्त में जिसको भी बसाया जाता है, उसका प्रतिबिम्ब चित्त में झलकने लगता है और ऐसी स्थिति आ जाती है जब केवल ध्येय की ही प्रतीति होने लगती है और चित्त अपने स्वरूप से शून्य की तरह हो जाता है। इस अवस्था को समाधि कहते हैं। चित्त का तदाकार होना भी इसी लाक्षणिक भाव में कहा जाता है।

वस्तुतः जड़ (चित्त) कभी भी त्रिगुणातीत सच्चिदानन्दघन अक्षरातीत का रूप नहीं ले सकता, किन्तु समाधि की उस गहन अवस्था में सब कुछ लौह अग्निवत् साधर्म्यता को प्राप्त हो जाता है।

चितवनि की प्रक्रिया में केवल आत्मिक दृष्टि ही

परमधाम पहुँचती है तथा अक्षरातीत की शोभा का रसपान करती है। उससे प्राप्त होने वाले अनुभव (दर्शन एवं ज्ञान) के सुख को जीव प्राप्त करता है, जो बाद में अन्तःकरण को अनुभूत होता है। यह ध्यान रखने योग्य तथ्य है कि मन, चित्त, बुद्धि, तथा अहंकार का समुच्चय (मेल) ही अन्तःकरण कहलाता है।

जो सुख परआत्म को, सो आत्म ना पोहोंचत।

जो अनुभव होत है आत्म, सो नहीं जीव को इत॥

जो कछू सुख जीव को, सो बुध ना अंतस्करन।

सुख अंतस्करन इन्द्रियन को, उतर पोहोंचावे मन॥

किरंतन ७३/७,८

चितवनि में जोश तथा आवेश की भूमिका

यह सर्वविदित है कि परब्रह्म के जोश द्वारा ही अखण्ड

बेहद मण्डल का साक्षात्कार एवं ज्ञान होना सम्भव है। कतेब परम्परा में जोश को ही जिबरील कहते हैं। इसी जोश द्वारा योगेश्वर श्री कृष्ण जी ने गीता का अलौकिक ज्ञान दिया, शुकदेव जी ने परीक्षित को महारास का वर्णन सुनाने का प्रयास किया, कबीर जी ने बीजक के पदों और साखियों को कहा, तो शिव जी ने उमा को अमरकथा सुनायी। मुहम्मद साहब ने भी जिबरील द्वारा ही कुरआन को उतारा।

अपने त्याग, तप, एवं पुरुषार्थ से योग-साधना द्वारा महाशून्य की कैवल्यवस्था तो प्राप्त की जा सकती है, किन्तु बिना जोश के कोई भी बेहद मण्डल में प्रवेश नहीं कर सकता। यह बात प्रसिद्ध है कि जब शुकदेव जी ने राजा परीक्षित को महारास का वर्णन सुनाना प्रारम्भ किया, तो मना करने के पश्चात् भी संशयबुद्धि परीक्षित ने

प्रश्न कर दिया, जिसके परिणाम स्वरूप शुकदेव जोश से रहित हो गये और रास लीला का यथार्थ वर्णन नहीं सुना सके।

इसी प्रकार, परब्रह्म के आवेश के बिना कोई भी परमधाम को नहीं देख सकता, चाहे कोई कितना ही बड़ा योगी, तपस्वी, एवं ब्रह्मचारी क्यों न हो।

यह विशेष रूप से स्मरण रखने योग्य तथ्य है कि परब्रह्म का जोश ईश्वरीय सृष्टि (शिव, सनकादि, कबीर, विष्णु भगवान, शुकदेव जी) पर ही आया, कभी भी जीव सृष्टि पर नहीं। किन्तु आवेश मात्र ब्रह्मसृष्टियों एवं अक्षर ब्रह्म पर ही आ सकता है, ईश्वरीय सृष्टि पर नहीं।

ब्रह्मसृष्टियों पर जोश एवं आवेश दोनों की लीला होती है और वे ही निराकार-बेहद को पार कर परमधाम

का साक्षात्कार करती हैं, जबकि जीव सृष्टि के बड़े-बड़े योगेश्वर महाशून्य की कैवल्य अवस्था को ही प्राप्त करके सन्तुष्ट हो जाते हैं। आगे बिना जोश के जा पाना उनके लिये सम्भव नहीं हो पाता।

जोश तथा आवेश को प्राप्त करने का साधन

प्रियतम अक्षरातीत के जोश एवं आवेश को प्राप्त करने के लिये चितवनि के अतिरिक्त अन्य कोई भी मार्ग नहीं है। ध्याता (ध्यान करने वाले) में ध्येय (जिसका ध्यान किया जाये) के गुण आना स्वाभाविक है। जैसे-जैसे परब्रह्म के स्वरूप की धारणा की जाती है, वैसे-वैसे विरह-प्रेम की अग्नि में विकार जलने लगते हैं। विरह – प्रेम की परिपक्व अवस्था में जोश आता है, जिससे सुरता निराकार मण्डल को पार कर बेहद मण्डल में प्रवेश करती है तथा अव्याकृत, चिदानन्द लहरी, अखण्ड ब्रज

तथा रास, सबलिक, केवल, एवं सत्स्वरूप की शोभा का रसास्वादन करने लगती है। "ल्याओ प्यार करो दीदार" तथा "मासूक हंसके तब मिले, जब हकें दिया इस्क" आदि का कथन इसी प्रसंग में है।

आवेश दो प्रकार का होता है— प्रेम का आवेश और निज स्वरूप (अक्षरातीत) का आवेश। प्रेम के आवेश के बिना अक्षरातीत का दर्शन नहीं हो सकता। दर्शन के पश्चात् मारिफत (परम सत्य, विज्ञान) की अवस्था आने पर ही श्री राज जी का आवेश प्राप्त हो सकता है। इस आवेश ने श्री कृष्ण जी में ११ वर्ष ५२ दिन तक, श्री देवचन्द्र जी में वि.सं. १६७८-१७१२ तक, श्री महामति जी में वि.सं. १७१२-१७५१ तक, महाराजा छत्रसाल जी में वि.सं. १७५१-१७५८ तक लीला किया।

युगल स्वरूप की धारणा कैसे करें

परमधाम की चितवनि में युगल स्वरूप की धारणा के कुछ प्रमुख बिन्दु इस प्रकार हैं—

- तारतम के मौन जप के साथ-साथ अपने परमहंस स्वरूप सद्गुरु या किसी ब्रह्ममुनि की धारणा करें। यह भावना करें कि अक्षरातीत परब्रह्म (श्री राज जी) का जोश सद्गुरु के स्वरूप में आपके आसन के सामने आकर विराजमान हो गया है।
- जिस आसन (कम्बल आदि) पर बैठकर आप ध्यान करते हैं, उस पर अन्य कोई भी कार्य नहीं कर सकते। प्राणायाम, वाणी का पाठ आदि अन्य आसनों पर ही बैठकर करें। अन्य किसी भी व्यक्ति को अपने ध्यान वाले आसन (कम्बल) पर न

बैठायें।

- अपने ध्यानासन (कोमल कम्बल) के ऊपर एक पतला सूती कपड़ा बिछायें। आधे पर स्वयं बैठें तथा आधा सद्गुरु स्वरूप जोश के लिये छोड़ दें।
- जप करते हुए ऐसी भावना करें कि सद्गुरु महाराज का स्वरूप सामने आकर आसन पर विराजमान हो गया है। ऐसी अवस्था में अपने आत्मिक स्वरूप से बिना शरीर को हिलाये-डुलाये मन ही मन प्रणाम करें।
- अपने इस पञ्चभौतिक शरीर को पूर्णतया भुला दें और अपनी परात्म के तन के रूप में सद्गुरु के साथ-साथ इस ब्रह्माण्ड से परे की ओर चलें।
- आत्मा परात्म का प्रतिबिम्बित रूप है और परात्म

परब्रह्म की आह्लादिनी शक्ति श्यामा स्वरूपा है।
स्वयं को उसी रूप में मानकर इस शरीर और
संसार को पूर्णतया भूल जाइए।

जो मूल सरूप है अपने, जाको कहिए परआत्म।
सो परआत्म लेय के, विलसिए संग खसम॥

सागर ७/४१

- यह भावना कीजिए कि परात्म के रूप में मेरी
आत्मिक दृष्टि अष्टावरण (पञ्चभूत + मन + बुद्धि
+ अहंकार) युक्त इस चौदह लोक के ब्रह्माण्ड से
परे देख रही है। आगे सात शून्य, महाशून्य का घना
अन्धकार दिखायी दे रहा है, जिसमें ज्योतिर्मयी
महाविष्णु (आदिनारायण, ॐ, ज्योतिस्वरूप,
हिरण्यगर्भ, शेषशायी) दिखायी पड़ रहे हैं।

- सद्गुरु महाराज के साथ मेरी आत्मिक दृष्टि महाशून्य को पार करके अनन्त ज्योति वाले बेहद मण्डल के अव्याकृत (मन स्वरूप) में प्रवेश कर रही है, जिसमें सर्वप्रथम प्रणव (ॐ) का अनुभव हो रहा है। आगे सुमंगला पुरुष को देखती हुई सबलिक ब्रह्म में (अखण्ड ब्रज एवं रास) को देख रही है। आगे केवल ब्रह्म और सत्स्वरूप को देखती हुई परमधाम में प्रवेश कर रही है।
- अब ऐसा लगने लगा है कि सद्गुरु महाराज का स्वरूप (जोश) अचानक ही अदृश्य हो गया है तथा मेरे रोम-रोम में केवल प्रेम ही प्रेम का आवेश भरा हुआ है। मेरे सामने सर्वरस (कृपा का) सागर का लहराता हुआ दृश्य दिखायी दे रहा है। चारों ओर दिव्य, चेतन, प्रेम, और आनन्द से भरा हुआ

अनन्त नूर (प्रकाश) लीला रूप असंख्य पदार्थों के रूप में झिलमिलाते हुए दिखायी पड़ रहा है।

➤ मेरे सामने एक अति सुन्दर नूरमयी पुल दिखायी दे रहा है, जिससे होती हुई मेरी दृष्टि बायीं हाथ मुड़कर एक सुन्दर घाट (पाट) पर पहुँचती है। मेरे सामने दूध से भी कोटि गुना उज्ज्वल नूरी (प्रकाशमयी) जल की अति मनोहर नदी (यमुना जी) दिखायी पड़ रही है, जिसमें अपनी परात्म के स्वरूप में मेरी आत्मिक दृष्टि स्नान कर रही है। मुझे ऐसा अनुभव हो रहा है कि मेरे रोम-रोम में प्रेम, सौन्दर्य, और समर्पण का सागर क्रीड़ा कर रहा है।

➤ अब मेरी दृष्टि पश्चिम दिशा की ओर पड़ रही है। मेरे दायें-बायें अनन्त आभा वाले वृक्षों के वन दिखायी पड़ रहे हैं, जिनके एक-एक पत्ते में ऐसा प्रतीत

होता है जैसे करोड़ों सूर्य उग आये हैं। सामने एक सुन्दर मैदान सा दिख रहा है, जिसके एक-एक कण में करोड़ों सूर्यों का प्रकाश जगमगा रहा है।

- सामने बढ़ने पर वह दिव्य ब्रह्मपुर धाम (रंगमहल) जगमगाते हुए दृष्टिगोचर हो रहा है, जिसमें एक गोल चबूतरे के ऊपर अरबों सूर्यों के प्रकाश को लज्जित करने वाला कञ्चन रंग का सिंहासन है, जिसके ऊपर परब्रह्म का अति सुन्दर किशोर स्वरूप विराजमान है।
- अब मेरी आत्मिक दृष्टि परब्रह्म के युगल स्वरूप को निहार रही है। अंग-अंग में कान्ति का अनन्त सागर लहरा रहा है। दोनों गाल अपनी अनन्त नूरी शोभा से सुशोभित हो रहे हैं। कमल की कोमलता से भी करोड़ों गुना कोमल उनके चरण कमलों,

नेत्रों, होठों, कानों, और गले की सुन्दरता को देख-देखकर मेरी अन्तर्दृष्टि उसमें ऐसे डूबी जा रही है, जैसे कोई मछली अनन्त सागर में कितना भी तैरने का प्रयास करे किन्तु उसका ओर-छोर न पाये।

➤ सर्वप्रथम मेरी आत्मिक दृष्टि ने युगल स्वरूप के चरण कमल को देखा और उनके सौन्दर्य सागर में अपने अस्तित्व को भूल गयी। धीरे-धीरे वह मुखारविन्द की ओर मुड़ी तथा एक-एक नूरी अंग, वस्त्र, और आभूषण में खोती गयी। एक-एक रोम तथा एक-एक कण में ऐसा लगा जैसे सच्चिदानन्द अक्षरातीत के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं।

➤ मुझे ऐसा लगा है कि मैं अपने प्राणेश्वर अक्षरातीत युगल स्वरूप के समक्ष ही बैठी हुई हूँ। मेरे समान

ही अनन्त आत्मार्ये यहाँ विराजमान हैं। सभी की दृष्टि परब्रह्म की ओर है। सभी का स्वरूप तथा दिल आदि एक समान है।

- इस प्रकार अनन्त आनन्द में मनोवांछित विहार करने के पश्चात् मेरी आत्मिक दृष्टि परमधाम से वापस बेहद मण्डल में आ जाती है, जहाँ उसे सद्गुरु महाराज का स्वरूप (जोश स्वरूप) दिखायी देता है। उनके साथ वह रास, व्रज, सुमंगला पुरुष, एवं प्रणव (ॐ) को देखती हुई कालमाया में प्रवेश करती है, जहाँ मोह सागर, सात शून्य से होती हुई पृथ्वी पर अपने मूल तन में वापस आ जाती है।

विशेष- युगल स्वरूप की शोभा सावयव (अनेक अंगों से युक्त) है, इसलिये उसमें ध्यान-समाधि लगाना प्रायः कठिन है, क्योंकि मन में अनेक प्रकार के अंगों के

कारण ध्यान की स्थिति नहीं बन सकती। सांख्य ६/२५ में कहा गया है कि "ध्यानं निर्विषयं मन" अर्थात् मन का ध्येय के अतिरिक्त अन्य सभी विषयों से रहित हो जाना ही ध्यान है।

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्॥

योग दर्शन ३/२

धारणा में चित्त जिस वृत्ति मात्र से ध्येय में लगता है, उस वृत्ति का समान प्रवाह से लगातार इस प्रकार बने रहना कि कोई और वृत्ति न आये, ध्यान कहलाता है।

सांख्य तथा योग के इन कथनों से स्पष्ट है कि निरवयव में ध्यान उचित रूप से सरलतापूर्वक हो सकता है, अपेक्षाकृत सावयव के।

किन्तु, इसका समाधान इस प्रकार है—

जिस प्रकार किसी संगणक (कम्प्यूटर) के माउस

का निशान, जो एक तीर की तरह होता है, संकेत मात्र से पर्दे पर जहाँ चाहे घूमता है या स्थिर रहता है, उसी प्रकार अपनी आत्मिक दृष्टि को श्री राज जी (परब्रह्म) के युगल स्वरूप के किसी भी अंग (चरण, मुखारविन्द इत्यादि) में सरसो से भी सूक्ष्म कोई बिन्दु लें और उसी पर अपनी दृष्टि को केन्द्रित करें। कुछ देर के पश्चात् अंग विशेष की शोभा देखें और ध्यान कहीं और भटके इसके पहले ही सूक्ष्म बिन्दु पर केन्द्रित कर दें।

इस प्रक्रिया का अभ्यास करते-करते एक समय ऐसा भी आयेगा, जब परब्रह्म की शोभा अवयवहीन प्रतीत होगी तथा ध्यान-समाधि की गहन अवस्था प्राप्त हो जायेगी। किन्तु इसके लिये सतत प्रयास, विरह, प्रेम, श्रद्धा, समर्पण, अल्पाहार, एवं सतोगुण की अधिकता का होना अनिवार्य है। चितवनि की इस प्रक्रिया को

तारतम वाणी के इन शब्दों से समायोजित करें।

चारों जोड़े चरन के, ए जो अर्स भूखन।

ए लिए हिरदे मिने, आवत सरूप पूरन॥

सागर १०/६६

एक रस होइए इस्क सों, चले प्रेम रस पूर।

फेर फेर प्याले लेत हैं, स्याम स्यामा जी हजूर॥

पिउ नेत्रों नेत्र मिलाइए, ज्यों उपजे आनन्द अति घन।

तो प्रेम रसायन पीजिए, जो आतम थें उतपन॥

आतम अन्तस्करन विचारिये, अपने अनुभव का जो सुख।

बढ़त बढ़त प्रेम आवहीं, परआतम सनमुख॥

इतथें नजर न फेरिए, पलक न दीजे नैन।

नीके सरूप जो निरखिए, जो आतम होए सुख चैन॥

तब प्रेम जो उपजे, रस परआतम पोहोंचाए।

तब नैन की सैन कछु होवहीं, अन्तर आंखा खुल जाए॥

सागर ११/२९,४०-४३

ए मेहेर करें चरन जिन ऊपर, देत हिरदे पूरन सरूप।

जुगल सरूप चित्त चुभत, सुख सुन्दर रूप अनूप॥

सिनगार २१/२२७

इस प्रकार चितवनि की यह विशिष्ट प्रक्रिया साकार-निराकार की सभी ध्यान पद्धतियों से कुछ भिन्नता लिए हुए है, किन्तु त्रिगुणातीत परमधाम एवं परब्रह्म के साक्षात्कार के लिये इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग भी नहीं है। आवश्यकता है, साम्प्रदायिक मतभेदों एवं संकीर्णताओं को छोड़कर अपनी अन्तरात्मा की पुकार सुनने की। यदि हम अपने अन्तस् की आवाज

को सुनकर अटूट श्रद्धा-विश्वास, विरह, समर्पण, तथा प्रेम द्वारा चितवनि के पुनीत मार्ग पर चलें, तो प्रियतम परब्रह्म का साक्षात्कार इस नश्वर जगत में करने में हम अवश्य सफल हो जायेंगे, इसमें कोई भी संशय नहीं है।

॥ यह पंचम तरंग पूर्ण हुई ॥



षष्ठ तरंग

प्रश्न-मंजूषा

यद्यपि ध्यान-साधना का मार्ग श्रद्धा, समर्पण, अनुशासन, और पुरुषार्थ का है, किन्तु लक्ष्य की प्राप्ति के लिये यथार्थ ज्ञान का होना आवश्यक है, अन्यथा भटकाव की खाई में गिरने का भय बना ही रहता है।

प्रायः यह देखा जाता है कि उचित मार्गदर्शन के अभाव में ध्यान पथ के राही वास्तविक मार्ग से कभी-कभी विचलित भी हो जाते हैं, परिणाम स्वरूप लम्बी-लम्बी साधनायें भी उन्हें लक्ष्य तक नहीं पहुँचा पाती हैं। इसके समाधान के लिये प्रश्नों की यह पेटिका (सन्दूक, मञ्जूषा) प्रस्तुत की जा रही है। श्री राज जी की कृपा की छत्रछाया में उनका संक्षिप्त उत्तर निम्नलिखित है—

१. प्रश्न- प्रातःकाल ३ से ६ बजे तक चितवनि करने में और शेष समय चितवनि करने में क्या अन्तर है? ब्रह्म मुहूर्त में चितवनि करने का क्या महत्व है?

उत्तर- प्रातःकाल ३ से ६ का समय ब्राह्म-मुहूर्त कहलाता है, जिसका आशय ही होता है- ब्रह्म के ध्यान-चिन्तन का समय। इस समय सम्पूर्ण वातावरण में सात्त्विकता एवं शान्ति का साम्राज्य फैला होता है। शुद्ध हवा बह रही होती है, जिसमें आक्सीजन तथा चन्द्रमा की किरणों से निकलने वाले औषधीय गुणों की प्रधानता होती है। शरीर में भी प्रायः सुषुम्ना नाड़ी प्रवाहित हो रही होती है, जो सतोगुण का द्योतक होती है।

रात्रि में नींद पूरी होने से दिन-भर के परिश्रम की थकान मिट गयी होती है। अतः यह स्थिति ध्यान की दृष्टि से सर्वोत्तम मानी गयी है।

जिस समय शरीर में इड़ा एवं पिंगला नाड़ी चल रही होती है, उस समय रजोगुण की प्रधानता होने से मन चंचल होता है तथा ध्यान विधिवत् नहीं हो पाता। ऐसी अवस्था में ऊँचे स्तर के साधक पीठ के बल शवासन की मुद्रा में कुछ देर (लगभग ५-१० मिनट) के लिये लेटकर जैसे ही ब्रह्म-चिन्तन करते हैं, वैसे ही सुषुम्ना प्रवाहित होने लगती है और ध्यान के लिये उपयुक्त भूमिका तैयार हो जाती है। इस अवस्था में सतोगुण से युक्त होकर कभी भी ध्यान किया जा सकता है।

यह ध्यान रखना चाहिए कि बायीं करवट लेट जाने पर दायाँ स्वर चलने लगता है, जो पिंगला अर्थात् सूर्य नाड़ी के चलने का संकेत देता है। दायीं ओर लेटने पर बायाँ स्वर चलने लगता है, जो इड़ा अर्थात् चन्द्र नाड़ी के चलने का संकेत देता है।

२. प्रश्न- चितवनि के प्रारम्भिक अभ्यास में मन के संकल्प-विकल्प और वाणी के ज्ञान द्वारा ही चितवनि करनी चाहिए या कोई और भी विकल्प है?

उत्तर- तारतम ज्ञान के आधार पर पृथ्वी से परमधाम तक की अनुभूति के लिये एक मानचित्र सा तैयार हो जाता है। उस ज्ञान को अपने हृदय में धारण कर श्रद्धा, समर्पण, विरह, और प्रेम का पुट देकर स्वयं को चितवनि में डुबाना होता है, तभी साक्षात्कार हो पाता है। अन्य सभी मार्ग जैसे गायन, सेवा (शारीरिक, मानसिक, एवं धन की) आदि सहायक तो बन सकते हैं, किन्तु अकेले इनके द्वारा प्रियतम अक्षरातीत का साक्षात्कार नहीं हो सकता। चितवनि का कोई भी विकल्प नहीं है।

३. प्रश्न- तमोगुण तथा रजोगुण को वश में करने के लिये क्या करना चाहिए, ताकि मन और शरीर दोनों को सरलता से वश में किया जा सके?

उत्तर- सर्वप्रथम तो रजोगुणी एवं तमोगुणी आहार का परित्याग करना होगा, क्योंकि आहार के अनुसार ही विचार निर्धारित होते हैं। आहार का स्थूल भाग मल बनता है, सूक्ष्म भाग से रस, और सूक्ष्मतम भाग से विचार तन्तु बनते हैं। वस्तुतः मनुष्य अपने विचारों से ही अपने व्यक्तित्व का निर्माण करता है। छान्दोग्योपनिषद में कहा गया है कि "आहार शुद्धौ सत्त्व शुद्धिः।" आहार की शुद्धता से ही बुद्धि की शुद्धता होती है। बुद्धि के अधीनस्थ ही मन है। ऐसी अवस्था में आहार को सात्त्विक बनाये बिना मन को सात्त्विक नहीं बनाया जा सकता। क्या माँस और शराब का सेवन करके

समाधिस्थ हुआ जा सकता है? कदापि नहीं। जो जितना बड़ा योगी, तपस्वी, या परमहंस होता है, उसका आहार उतना अधिक सात्विक होता है।

इसलिये अध्यात्मिक आनन्द की कामना करने वाले को लहसुन, प्याज, मिर्च, चाय, कॉफी, अचार, गरम मसाले, बासी, जूठे, दुर्गन्धयुक्त खाद्य, एवं नशीले पदार्थों का त्याग करना ही होगा। सात्विक भोजन भी अल्प मात्रा में करना चाहिए तथा अति निद्रा, अति जागरण को छोड़कर आहार-विहार के मध्यम मार्ग द्वारा नियमित ध्यान-साधना से अपने अन्दर की रजोगुणी एवं तमोगुणी प्रवृत्ति को समाप्त किया जा सकता है।

४. प्रश्न- चितवनि में जब परात्म का ही भाव लेना है, तो सीधे मूल मिलावा से ही चितवनि क्यों नहीं प्रारम्भ करते? पहले सद्गुरु का ध्यान करके हृद-बेहद

से परे सुरता क्यों ले जाते हैं?

उत्तर- हमारी आत्मा जिस मानवीय तन का आधार लेकर इस खेल को देख रही है, वह परात्म के तन से सर्वथा भिन्न है। यहाँ का तन बुढ़ापा, कुरूपता, एवं काम-क्रोधादि विकारों को लिये हुए है और मल-मूत्र, अस्थि, एवं रक्त से भरा हुआ है। जब तक इस शरीर का भान रहेगा, तक तक न तो ध्यान की कोई कल्पना की जा सकती है और न संसार से परे होकर परमधाम में दृष्टि करने की।

इसके विपरीत परात्म का तन प्रियतम अक्षरातीत का ही तन है। वह हूबहू (जैसा का तैसा) आनन्द स्वरूपा श्यामा जी जैसा है। उस निर्विकार, त्रिगुणातीत, तथा सौन्दर्य की राशि स्वरूप परात्म का भाव लेते ही इस संसार से हमारा सम्बन्ध छूट जाता है, और हमारी

आत्मिक दृष्टि परमधाम की ओर गमन करने लगती है।

इस खेल में हमारी आत्मा परमधाम से परात्म की सुरता के रूप में है, इसलिये चितवनि की प्रक्रिया में यह धारणा तो बनानी ही पड़ेगी कि मैं हृद-बेहृद को छोड़कर परमधाम में विराजमान युगल स्वरूप का साक्षात्कार कर रही हूँ। जिस प्रकार युगल स्वरूप के दर्शन के लिये उनके स्वरूप की धारणा की जाती है, उसी प्रकार इस संसार से परे दृष्टि करने के लिये इसे छोड़ने का भाव लेना ही होगा, भले ही एक मिनट या पल भर के लिये ही क्यों न हो।

इसलिये चितवनि के प्रारम्भिक अभ्यासी को हृद-बेहृद को उलंघने तथा सद्गुरु के ध्यान का आधार लेना ही पड़ेगा। जो अध्यात्म की चरम (मारिफत) अवस्था तक पहुँच गये हैं, उन्हें इसकी आवश्यकता नहीं पड़ती,

क्योंकि उनकी दृष्टि हमेशा परमधाम में ही विचरण करती रहती है। उनके सम्बन्ध में तारतम वाणी का कथन है—

लगी वाली और कछू न देखे, पिण्ड ब्रह्माण्ड वाको है री नहीं।

ओ खेले प्रेमें पार पियासों, देखन को तन सागर मांही॥

किरंतन ९/४

५. प्रश्न— सूक्ष्म का ध्यान यदि मारिफत की राह है, तो इससे पहले हकीकत को पाने के लिये कैसे चितवनि करनी चाहिए, ताकि धनी के स्वरूप को दिल में बसा सकें?

उत्तर— इस नश्वर जगत के किसी भी स्थूल पदार्थ की धारणा अखण्ड का साक्षात्कार नहीं करा सकती। इसलिये परमधाम की सूक्ष्म (त्रिगुणातीत) शोभा को ही दिल में बसाना होगा। इस सम्बन्ध में तारतम वाणी में

कहा गया है—

ए जो फरज मजाजी बन्दगी, बीच नासूत हक से दूर।

होए मासूक बन्दगी अर्स में, कही बका हक हजूर॥

श्रृंगार २९/१८

हकीकत (सत्य) का उत्कृष्ट रूप ही मारिफत (परमसत्य) है। युगल स्वरूप, परात्म, तथा परमधाम का साक्षात्कार करना हकीकत की अवस्था है, जबकि अक्षरातीत के सौन्दर्य, प्रेम, एवं आनन्द में स्वयं को भुला देना मारिफत है। उस समय श्री राज जी के अतिरिक्त और कुछ भी अनुभव में नहीं आयेगा।

इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि हकीकत एवं मारिफत दोनों की राह एक ही (सूक्ष्म ध्यान) है। स्थूल पूजा इस संसार से जुड़ी है, जो कर्मकाण्ड (शरीयत) की राह है

और श्रृंगार २९/१८ के कथनानुसार केवल फर्ज निभाने वाली बन्दगी मजाजी है।

६. प्रश्न- यदि चितवनि करते समय मन से माया के विचार नहीं हटते तो क्या करना चाहिए?

उत्तर- चित्त में जन्म-जन्मान्तरों के अच्छे एवं बुरे संस्कार भरे रहते हैं। ध्यान के समय रजोगुण एवं तमोगुण के प्रभाव से कुछ समय के लिये बुरे संस्कार उभरते हैं, जिनके कारण मन में माया के विचार आने लगते हैं। ऐसी अवस्था में धैर्यपूर्वक साधना करते रहना चाहिए और अपने आसन पर ध्यान में बैठे रहना चाहिए। कुछ समय के पश्चात् द्रष्टाभाव से इन विचारों के प्रति कूटस्थता बनाये रखने पर ये स्वतः ही समाप्त हो जायेंगे। जैसे-जैसे विरह-प्रेम का रस बढ़ेगा और युगल स्वरूप की शोभा बसती जायेगी, वैसे-वैसे मन मायावी विचारों से

शून्य होता जायेगा।

७. प्रश्न- जब चितवनि में कभी-कभी श्री राज जी की शोभा ध्यान में नहीं आ पाती, उस समय आँखों के सामने सिर्फ अन्धेरा छाया रहता है। ऐसी स्थिति में स्वयं को चितवनि में कैसे डुबाया जाए?

उत्तर- अन्तःकरण (मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार) के रजोगुण एवं तमोगुण से ग्रसित रहने के कारण ध्यान के समय नींद आती है या अन्धेरा छाया रहता है। इस समस्या के समाधान के लिये निम्नलिखित उपाय करने होंगे-

- "यथा रात्रिः तथा दिवसः" के कथन को हृदयंगम करना होगा। हमारी मानसिकता जैसी रात में होगी, दिन में भी वैसी ही रहेगी। रात्रि में नींद एवं भोजन

का सम्मिलित तमोगुण मिलकर अधिक हो जाता है, इसलिये रात्रि को सोने से पहले का समय यदि साधनामय नहीं बनाया गया तो अध्यात्म के चरम लक्ष्य को पाना कठिन हो जायेगा। रात्रि में सोने से पूर्व ध्यान अवश्य करें, भले ही वह कुछ ही (२५-३०) मिनट का क्यों न हो। यदि सम्भव हो सके, तो अपने समय की मर्यादानुसार १ या २ घण्टे करें। ध्यान के पश्चात् ५-६ बार इन वाक्यों को मन ही मन दोहरायें और सो जायें-

- ◆ मैं पूर्णतया निर्विकार और प्रेममयी बन गया हूँ।
- ◆ मैं ध्यान की गहराइयों में प्रवेश कर रहा हूँ।
- ◆ मेरा प्रियतम मेरे धाम-हृदय में विराजमान हो गया है।

इस प्रकार का शुभ संकल्प प्रातः काल के ध्यान के पश्चात् भी करें। धीरे-धीरे यह संकल्प चरितार्थ होना प्रारम्भ करेगा।

➤ रात्रि को सोते समय का किया हुआ शुभ संकल्प हमारे अन्तस् तक अवश्य पहुँचता है, क्योंकि नींद में मन, चित्त, बुद्धि आदि समाधि की तरह निष्क्रिय जैसे हो जाते हैं। अन्तर केवल इतना ही होता है कि समाधि में जागरूकता होती है, जबकि निद्रा में गहन तमोगुण छाया रहता है।

➤ भोजन करते समय कोई भी नकारात्मक या घृणा के विचार मन में न लायें। भोजन को सात्विक तरीके से चबायें तथा कौर छोटे-छोटे रखें। हाथों से भोजन का कौर (ग्रास) बहुत ही कोमलता एवं माधुर्यतापूर्वक पकड़े। माँस चबाने की तरह अपने

आहार को न चबायें।

- पानी का अधिक प्रयोग करें, किन्तु धीरे-धीरे। गटककर एक ही साँस में गिलास खाली कर देना बहुत बड़ी भूल है।
- हमेशा यह भावना रखें कि प्रियतम हमारे धाम – हृदय में विराजमान हैं और हमारे हर कार्य को देख रहे हैं। इस प्रवृत्ति से आप बुरे कार्यों से बच जायेंगे और दिन-प्रतिदिन सात्विक होते जायेंगे।
- स्वयं को शरीर न मानकर हमेशा आत्मिक दृष्टि से देखें। इससे आप विषय-विकारों से बचे रहेंगे। एकान्त में केवल ध्यान या स्वाध्याय ही करें। निठल्ले बैठकर बुरे विचारों में स्वयं को न डालें। इन नियमों का पालन करके अत्यधिक सतोगुणी बना

जा सकता है। उस समय ध्यान में अन्धेरा छा जाने की शिकायत नहीं होगी।

८. प्रश्न- यदि चितवनि में श्री राज जी के एक अंग से दूसरे अंग पर ध्यान चला जाता है, तो क्या दूसरे अंग की शोभा में ध्यान लगाना चाहिए या पहले वाले अंग पर ही ध्यान केन्द्रित करने का प्रयास करना चाहिए?

उत्तर- प्रेम की गहन अवस्था में तो आत्मा की यही स्थिति बन जाती है कि "एक अंग देखन लगी, सो तितहीं भई गलतान।" जिसे अपनी सुध ही नहीं, वह एक अंग से दूसरे अंग में दृष्टि कैसे करेगी?

किन्तु यदि चितवनि करते समय आत्मिक दृष्टि एक अंग से दूसरे अंग में चली जाती है, तो उसे अवश्य देखना चाहिए क्योंकि पूर्णब्रह्म के सभी अंगों की सुन्दरता

एवं महत्ता समान है। वहदत (एकत्व) के अन्दर कहीं भी न्यूनता या अधिकता जैसे शब्द नहीं होते। वस्तुतः सिद्धान्त यह है कि आत्मिक दृष्टि के सामने श्री राज जी की कृपा से जो भी अंग (एक या अनेक) आये, उसे प्रेम से देखते हुए उसमें डूबने का प्रयास करना चाहिए।

९. प्रश्न- चितवनि में जब कभी सूक्ष्मता महसूस होती है, तो श्री राज जी के प्रति कोई भी भाव नहीं आता। उस समय क्या करने से परब्रह्म के प्रेम में डूबा जा सकता है?

उत्तर- ध्यान का सूक्ष्म होना ध्यान की गहनता का द्योतक है, किन्तु इस प्रश्न में सूक्ष्मता का भाव "विचार शून्यता" से है, ऐसा प्रतीत होता है। ध्यान में कभी-कभी ऐसा भी होता है कि मन में कोई विचार तो नहीं आता, किन्तु युगल स्वरूप की छवि भी सामने नहीं

आती। यह अवस्था तमोगुण के प्रभाव से होती है। इस अवस्था में विचलित नहीं होना चाहिए, बल्कि मौनपूर्वक जिह्वा को बिना हिलाये "मेरे धनी, मेरे प्रियतम" आदि का जप करना चाहिए। ऐसा करने पर थोड़ी ही देर में तमोगुण से उत्पन्न अन्धकार का नाश हो जायेगा तथा सतोगुण के प्रकट होते ही जाग्रति जैसी अवस्था आयेगी। विरह-प्रेम के रस में डूबते ही प्रियतम का स्वरूप झलकने लगेगा।

१०. प्रश्न- चितवनि में जब श्री राज जी के अंगों को नख से शिख तक निहारना है, तब मन में क्या विचार होने चाहिए, क्योंकि प्रारम्भिक अवस्था में मन के विचारों को दबाना सम्भव नहीं हो पाता?

उत्तर- किसी भी विचार में अन्तःकरण (मन, चित्त, बुद्धि, अहम्) की भूमिका होती है। अहम् और

बुद्धि के अनुसार चित्त के संस्कार प्रकट होते हैं और उनके विषय में मन संकल्प-विकल्प करता है। जीव जिस योनि में जन्म लेता है, उस योनि के रूप से सम्बन्धित उसका अहम् होता है। इसी प्रकार सतोगुण, रजोगुण, एवं तमोगुण के अनुसार बुद्धि कार्य करती है। बुद्धि पर सत्व, रज, तथा तम का प्रभाव आहार, दिनचर्या, या घटना विशेष पर निर्भर करता है। बुद्धि जिस गुण से विशेष प्रभावित रहती है, उसी गुण से सम्बन्धित संस्कार भी प्रकट होते हैं। पुनः विचारों का प्रकटन (मन में) भी उन्हीं संस्कारों के अनुसार होता है।

इसलिये चितवनि में मन को लौकिक विचारों से मुक्त रखने के लिये सात्त्विक भावों का होना अनिवार्य है, अन्यथा मन सांसारिक विचारों में भागता रहेगा और साक्षात्कार दिवा-स्वप्न की तरह हो जायेगा।

विरह-प्रेम की गहन अवस्था में विचारों का उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। उस समय केवल दर्शन की ही तीव्र प्यास रहती है। चितवनि की प्रारम्भिक अवस्था में जो भी विचार उठते हैं, वे रजोगुण एवं तमोगुण से सम्बन्धित होते हैं। सतोगुण की अवस्था में केवल ज्ञान, भक्ति, एवं वैराग्य से सम्बन्धित ही विचार उठ सकते हैं, मायावी नहीं। हमारा एकमात्र यही प्रयास होना चाहिए कि चितवनि में कोई भी विचार उठे ही नहीं। हमारा सारा ध्यान केवल मधुर दर्शन (शर्बत-ए-दीदार) पर ही केन्द्रित होना चाहिए।

११. प्रश्न- जिस प्रकार तारतम वाणी में श्री राज जी के श्रृंगार से पहले मंगलाचरण होता है, उसी प्रकार चितवनि से पहले अक्षरातीत श्री राज जी के प्रति प्रेम में स्वयं को डुबाने के लिये, माया के शरीर और मैं खुदी से

परे होने के लिये क्या कर सकते हैं? मन में क्या विचार डाल सकते हैं?

उत्तर- चितवनि से पहले मन में यह दृढ़ धारणा लेनी चाहिए कि मुझे अपने प्राणेश्वर अक्षरातीत के दीदार के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहिए। चितवनि से पहले "मेरे प्रियतम, मेरे धनी, आ जाओ, आ जाओ, मेरे दिल में बस जाओ" आदि शब्दों का अत्यधिक भाव-विह्वल होकर हृदय में जप करना चाहिए, किन्तु यह ध्यान रहे कि होंठ आदि जरा भी न हिलें, बल्कि यह जप हृदय में होना चाहिए।

१२. प्रश्न- इश्क और ईमान धनी की वास्तविक पहचान से आते हैं। इनसे ही धनी का दीदार होता है, किन्तु जब हम चितवनि नहीं कर रहे होते हैं तो उस समय हमारी रहनी कैसे होनी चाहिए?

उत्तर- हमारी वास्तविक रहनी तो चितवनि (प्रेम) ही है। चितवनि में अपने प्रेम द्वारा प्रियतम अक्षरातीत का दर्शन एवं वार्तालाप का प्रयास किया जाता है। इस अवस्था में प्रेम (चितवनि) से बढ़कर और कौन सी रहनी हो सकती है।

यदि किसी विशेष परिस्थिति (यात्रा, अस्वस्थता आदि) में बैठकर हमें चितवनि के लिये समय नहीं मिल पाये, तो ऐसी अवस्था में हमें लेटे-लेटे या खड़े-खड़े भी किसी न किसी तरह युगल स्वरूप की शोभा का मानसिक चिन्तन तो अवश्य कर लेना चाहिए। यदि व्यस्तता के नाम पर हम १० मिनट भी अपने प्रियतम की याद में नहीं रह सकते, तो फिर हमारी कैसी रहनी? धाम धनी से पीठ मोड़कर नये-नये बहाने बनाना मात्र अपने अपराध को छिपाना है।

१३. प्रश्न- रात्रि में चितवनि करते समय यदि नींद आ जाये, तो क्या करना चाहिए? किसी अन्य समय चितवनि करनी चाहिए या उसी समय बलपूर्वक नींद को दबाकर चितवनि में डूबने का प्रयास करना चाहिए?

उत्तर- नींद को बलपूर्वक दबाने से अनेक प्रकार के रोग पैदा हो जाते हैं। तमोगुण की वृद्धि (अधिक गरिष्ठ एवं उत्तेजक भोजन से) तथा थकान के कारण अधिक नींद आती है। इससे बचने के लिये रात्रि का भोजन सात्विक एवं अल्प मात्रा में होना चाहिए। रात्रि ६ - ९ तथा प्रातः ४ - ६ के बीच में यदि नींद आती है, तो एक या दो गिलास पानी पीकर खुली हवा में टहल लेना चाहिये तथा आँखों एवं मुँह को पानी से धोकर चितवनि में बैठ जाना चाहिये। किन्तु रात्रि के ९ बजे से ३ बजे के बीच बैठने पर यदि नींद आती है, तो सो जाना चाहिए

और हल्की सी नींद लेकर पुनः पानी पीकर चितवनि में बैठ जाना चाहिए।

१४. प्रश्न- केवल रात्रि की चितवनि के बाद ही संकल्प कर सकते हैं या अन्य समय भी संकल्प किया जा सकता है?

उत्तर- वैसे तो शुभ (कल्याणकारी) मानसिक संकल्प कभी भी कर सकते हैं, किन्तु ध्यान के बाद करना अधिक फलदायक होता है, क्योंकि उस समय मन शान्त, पवित्र, और नकारात्मक विचारों से रहित होता है। रात्रि के ध्यान के बाद सोते समय का शुभ संकल्प सबसे अधिक प्रभावकारी होता है, क्योंकि उस समय की बात समाधि की तरह अनायास ही अन्तस् तक पहुँच जाती है।

१५. प्रश्न- संकल्प करते समय किसी बात को कितनी बार दोहराना चाहिए और क्यों?

उत्तर- पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने अवचेतन मन (sub-conscious mind) की कल्पना की है, जो चेतन मन (conscious mind) का ही आन्तरिक भाग होता है। उनके मतानुसार रात्रि को सोते समय एकाग्र मन से श्रद्धापूर्वक जो भी संकल्प किया जाता है, वह पूर्ण हो जाता है। इसकी अलौकिक शक्तियों के वर्णन में अनेक पुस्तकें लिखी गयी हैं।

भारतीय दर्शन के अनुसार अन्तःकरण (मन, चित्त, बुद्धि, अहम्) कारण शरीर है। इसके अन्दर अति सूक्ष्म जीव चैतन्य का वास है। मस्तिष्क शरीर का स्थूल भाग है, जो अन्तःकरण की कार्यशाला है। बुद्धि, चित्त, मन आदि को सूक्ष्मदर्शी से भी नहीं देखा जा सकता। इनका

अनुभव मात्र समाधि में ही होता है। अन्तःकरण की सम्पूर्ण क्रिया मस्तिष्क द्वारा प्रस्तुत की जाती है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों के अनुसार चेतन मन बाह्य रूप से कार्य करता है और अवचेतन मन आन्तरिक रूप से। अवचेतन मन में पूर्व जन्मों की बात छिपी रहती है। उसमें अथाह ज्ञान भरा होता है तथा इच्छा मात्र से संकल्प द्वारा वह असम्भव से दिखने वाले कार्यों का सम्पादन कर सकता है।

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने अवचेतन मन के बारे में अपनी बुद्धि से सोचकर कहा है , जबकि भारतीय दार्शनिकों ने समाधि की गहन अवस्था में कारण शरीर के अंगों (मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार) एवं जीव को उनके वास्तविक रूप में देखा है।

यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाये , तो यह

निष्कर्ष निकलता है कि मन के दो भाग नहीं हो सकते , क्योंकि यह अतीन्द्रिय सूक्ष्म पदार्थ है। क्या जीव के भी दो भाग हो सकते हैं? वस्तुतः मन की लीला दो प्रकार की होती है— बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी। इसी को उन्होंने चेतन तथा अवचेतन की संज्ञा दी है। पूर्वजन्मों के संस्कार चित्त में समाहित रहते हैं, मन (अवचेतन) में नहीं। इसी प्रकार ज्ञान का भण्डार बुद्धि में होता है, जो मस्तिष्क द्वारा प्रकट होता है। अहम् के अन्तर्गत होने वाले मन के संकल्पों, चित्त के चिन्तन, और बुद्धि की विवेचना को मस्तिष्क इन्द्रियों के माध्यम से कार्य रूप में प्रकट कर देता है।

किन्तु भ्रमवश पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने मन, चित्त, बुद्धि, अहम्, तथा मस्तिष्क को एक ही पदार्थ माना है और उसके दो भागों (चेतन और अवचेतन) की कल्पना

कर ली है।

रात्रि में सोते समय एकाग्र मन से किये हुए संकल्पों के पूर्ण होने की जो चमत्कारिक बातें की जाती हैं, उसे योग की दृष्टि से सरलतापूर्वक समझा जा सकता है।

रात्रि में सोते समय मन , चित्त, बुद्धि आदि की स्थिति वही होती है, जो समाधि अवस्था में होती है। अन्तर केवल इतना ही होता है कि नींद तमोगुण के प्रभाव से होती है, जबकि समाधि में प्रायः त्रिगुणातीत अवस्था होती है, जो सात्विक भावों से धारणा-ध्यान करने पर प्राप्त हुई होती है।

सोने से पूर्व मन द्वारा जो बार-बार संकल्प किया गया होता है, नींद में वही संकल्प चैतन्य जीव को प्राप्त हो जाता है। परिणामतः वह संकल्प समाधिस्थ योगी के

संकल्प की तरह ही पूर्ण हो जाता है।

पञ्चकोशों (प्राणमय, अन्नमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय) एवं अन्तःकरण से घिरा हुआ जीव चैतन्य अपने मूल रूप में कूटस्थ द्रष्टा है। जीव की चैतन्यता से ही मन, चित्त आदि में चैतन्यता आती है और ये क्रियाशील होते हैं, अन्यथा जीव से अलग होकर जड़ मन में संकल्प को पूर्ण करने का सामर्थ्य नहीं होता।

इसी सिद्धान्त के अनुसार, रात्रि को सोते समय ध्यान से उठने के बाद ५-६ बार अपने संकल्प को श्रद्धापूर्वक दृढ़ता से दोहराकर सोना चाहिए। हृदय की शुद्ध अवस्था में यह पुकार (संकल्प) चैतन्य जीव (अन्तस्) तक पहुँचती है और पूर्ण हो जाती है।

१६. प्रश्न- चितवनि के प्रारम्भिक अभ्यास में स्वयं को धनी के अंगों की शोभा में डुबोये रखने के लिये क्या करना चाहिए?

उत्तर- चितवनि में हमेशा प्रेम-विह्वल होकर युगल स्वरूप को एकटक देखने का प्रयास करना चाहिए। यद्यपि इस कार्य में बहुत संघर्ष करना पड़ेगा, क्योंकि मन स्वाभाविक रूप से चंचल होता है, किन्तु दृढ़तापूर्वक चितवनि के अभ्यास, सात्विकता की वृद्धि, एवं प्रियतम परब्रह्म की कृपा से सफलता अवश्य मिलती है।

१७. प्रश्न- ऐसा कहा जाता है कि चितवनि में जब तक श्री राज जी का जोश नहीं आता, तब तक उनका वास्तविक दीदार सम्भव नहीं है। तो क्या उससे पहले जो स्वरूप हमारे सामने आता है, वह हमारे मन की कल्पना है या कुछ और?

उत्तर- बिना देखे मनःपटल पर जब कोई आकृति उभरती है तो उसे काल्पनिक कहते हैं, किन्तु चितवनि में युगल स्वरूप की जिस शोभा को अपने दिल में बसाया जाता है, वह श्री महामति जी द्वारा प्रत्यक्ष देखी हुई है और सबके कल्याणार्थ परब्रह्म के आवेश से वर्णित की गयी है। इसलिये तारतम वाणी में वर्णित युगल स्वरूप की शोभा की धारणा करके जो चितवनि की जाती है, उसे काल्पनिक कदापि नहीं कह सकते। यह स्थिति वैसे ही है, जैसे किसी बने हुए चित्र या प्रत्यक्ष व्यक्ति को सामने देखकर उसका चित्र बनाने का प्रयास करना।

१८. प्रश्न- यह कैसे जाना जाये कि चितवनि में हम जिस राह पर चल रहे हैं, वह सही दिशा में सही तरीके से है या नहीं?

उत्तर- तारतम वाणी, वेद, ऋषि-मुनियों के

उपनिषद् तथा दर्शन आदि में वर्णित आप्त वचन , एवं अन्तरात्मा की साक्षी- ये चार कसौटियाँ हैं, जिनके अनुकूल होने पर हमारी राह सच्ची और प्रतिकूल (विपरीत) होने पर मिथ्या मानी जायेगी।

१९. प्रश्न- चितवनि में सद्गुरु का ध्यान कितना आवश्यक है?

उत्तर- हम अपने चर्म-चक्षुओं से जिस मायावी जगत को देख रहे हैं, वह तृष्णाओं के जाल में बँधा हुआ है, किन्तु जब हम आँखों को बन्द करके अन्तःचक्षुओं से किसी ब्रह्मनिष्ठ परमहंस रूप सद्गुरु को देखते हैं , तो उनकी दिव्यतायें हमारे साथ भी जुड़ जाती हैं, क्योंकि ध्याता में ध्येय के गुण आ जाते हैं।

इस अवस्था में ही श्री राज जी के जोश के साथ

हमारी आत्मा का सम्बन्ध जुड़ता है, और हमारी आत्मिक दृष्टि निराकार को पार करके बेहद मण्डल में पहुँच जाती है। सद्गुरु का रूप एक आधार होता है, जिसके द्वारा हम उन ब्राह्मी भावों में खोने लगते हैं, जो सद्गुरु में कूट -कूट कर भरे होते हैं। उन्होंने स्वयं प्रियतम परब्रह्म को अपने धाम-हृदय में बसाया होता है, इसलिये उनका ध्यान हमें धनी के जोश से युक्त कर देता है। चितवनि में सद्गुरु रूप ब्रह्मनिष्ठ परमहंस का दर्शन यह दर्शाता है कि अब परब्रह्म के साक्षात्कार का मार्ग पूर्णतया स्वच्छ हो गया है।

द्रष्टव्य- यहाँ सद्गुरु का तात्पर्य किसी बहुत बड़े आश्रम या मठ के अधिपति से नहीं है, बल्कि उस महान आत्मा से है, जिसने प्रियतम परब्रह्म का साक्षात्कार किया है। जिसका हृदय स्वयं धनी की शोभा को नहीं

बसा पाया हो, उसको सद्गुरु मानकर उनका ध्यान करने से कोई लाभ नहीं है।

२०. प्रश्न- चितवनि के प्रारम्भिक अभ्यास में यदि एक घण्टे बैठते हैं, तो श्री राज जी के एक ही अंग में स्वयं को डुबोना चाहिए या पूरे स्वरूप को दिल में बसाने का प्रयास करना चाहिए?

उत्तर- जब तक श्री राज जी का नख से शिख तक का पूर्ण श्रृंगार हृदय में बस नहीं जाता , तब तक पूर्ण आत्म-जाग्रति नहीं कही जा सकती। इस सम्बन्ध में तारतम्य वाणी में कहा गया है-

जब पूरन सरूप हक का, आए बैठा मांहेँ दिल।

तब सोई अंग आत्म के, उठ खड़े सब मिल॥

श्रृंगार ४/७०

मात्र एक अंग विशेष की ही शोभा बसा लेने पर पूर्ण जाग्रति नहीं कही जायेगी। "जो अंग हिरदे न आइया, रूह के तेती फरामोसी संग" (श्रृंगार ४/२०) के इस कथन का यही आशय है।

भले ही प्रेम और आनन्द की अनुभूति के लिये श्री राज जी के अंग विशेष की शोभा में स्वयं को डुबाये रखें, किन्तु प्रियतम के नख से शिख तक की सम्पूर्ण शोभा का ध्यान प्रतिदिन अवश्य करना चाहिए।

२१. प्रश्न- युगल स्वरूप को दिल में बसाने के लिये प्रतिदिन औसतन कितने घण्टे चितवनि करनी चाहिए?

उत्तर- इसके लिये कोई समय सीमा तय नहीं की जा सकती। यदि हृदय निर्मल है, विरह-प्रेम के भावों से

भरा है, तथा दीदार का प्यासा है, तो श्री राज जी की कृपा (मेहर) से बहुत कम समय में ही दर्शन हो सकता है। इसलिये तारतम वाणी में कहा गया है कि "पंथ होवे कोट कलप, प्रेम पोहोंचावे मिने पलक।" किन्तु यदि हृदय विषय-वासनाओं के जाल में फँसा हुआ है, शुष्क, कठोर है, और अहंकार से भरा हुआ है, तो उसके लिये प्रतिदिन ६ घण्टे की चितवनि भी पर्याप्त नहीं है।

सामान्यतः गृहस्थ व्यक्ति को कम से कम १ घण्टा तथा विरक्त व्यक्ति को कम से कम २ घण्टे चितवनि प्रतिदिन अवश्य करना चाहिए। इससे अधिक यदि करते हैं, तो बहुत ही अच्छा है। विद्यार्थी को प्रातः-सायं दोनों समय चितवनि लगभग एक या आधे घण्टे तक अवश्य करनी चाहिए।

२२. प्रश्न- सद्गुरु का स्वरूप चितवनि में हमारी आत्मा के साथ कहाँ तक जायेगा?

उत्तर- सर्वरस सागर से ही परमधाम की भूमिका शुरू हो जाती है, इसलिये सद्गुरु का स्वरूप केवल सत्स्वरूप तक ही जा सकता है, यमुना जी तक नहीं, क्योंकि परमधाम के एकत्व (वहदत) में वृद्धावस्था का कोई भी रूप प्रवेश नहीं कर सकता। दूसरा कारण यह भी है कि परमधाम में प्रेममयी भूमिका है, जहाँ जोश भी नहीं जा सकता।

तारतम वाणी में जिबरील के लिये जो यमुना जी को पार न करने का प्रसंग है, वह लाक्षणिक भाव है, जिसमें यह कहा गया है कि "जित जोए न उलंघत।" यदि जिबरील सर्वरस सागर को पारकर यमुना जी के पूर्वी किनारे तक पहुँच गया, तो वह स्थान भी तो परमधाम के

अन्दर ही आयेगा। सर्वरस सागर में भी श्री राज जी तथा ब्रह्मात्माओं की लीला होती है। ऐसी स्थिति में जिबरील द्वारा यमुना जी को पार न करने का भाव सत्स्वरूप तक पहुँचने से लिया जायेगा, न कि यमुना जी के किनारे पहुँचने तक।

२३. प्रश्न- साधना की अवस्था में मौन का क्या महत्व है? कृपया समझाइए।

उत्तर- अनावश्यक अधिक बोलने से मन चंचल हो जाता है तथा न चाहते हुए भी कुछ मिथ्या बात मुख से निकल ही जाती है। इसलिये अन्तर्मुखी होने के लिये "मौन" व्रत का पालन किया जाता है। सामान्य "मौन" में तो लिखकर या संकेतों से काम चला लिया जाता है, किन्तु "काष्ठ मौन" में लिखना या संकेत करना भी वर्जित होता है। वस्तुतः मौन का वास्तविक स्वरूप है—

अपने मन में बुरे विचार आने ही न देना। इतना तो निश्चित है कि निरर्थक अपनी वाचालता का प्रदर्शन करने वाला ध्यान-समाधि का अधिकारी नहीं बन पाता।

२४. प्रश्न- योग के सिद्धान्त के आधार पर साधक को मात्र एक ही केन्द्र पर ध्यान करने के लिये कहा जाता है, जबकि तारतम वाणी के आधार पर हम परब्रह्म के युगल स्वरूप तथा परमधाम के २५ पक्षों में अलग-अलग ध्यान लगाते हैं, तो क्या यह उचित है? इस प्रकार के ध्यान में हम एकाग्रता कैसे लाएँ?

उत्तर- योग दर्शन में ब्रह्म के धाम और स्वरूप का कोई भी वर्णन नहीं है, इसलिये प्रकृति से परे होने के लिये हृदय, त्रिकुटी, दशम द्वार आदि अनेक स्थानों में चित्त की वृत्तियों का निरोध किया जाता है। तारतम वाणी में परमधाम के २५ पक्षों एवं युगल स्वरूप की

शोभा का विस्तारपूर्वक वर्णन है, इसलिये धारणा के लिये उस शोभा को आधार बनाया जाता है। इस प्रकार, यह उचित ही है, धारणा परिपक्व रूप में ध्यान में परिवर्तित हो जाता है। तत्पश्चात् परमधाम और युगल स्वरूप का साक्षात्कार होता है।

२५. प्रश्न- कल्पना, अनुभव, और साक्षात्कार क्या है? इनमें अन्तर स्पष्ट करें।

उत्तर- कल्पना- बिना देखे किसी रूप को अपने हृदय में इस प्रकार अंकित करना जैसे वह पहले देख चुका हो, कल्पना है।

अनुभव- अन्तःकरण की आँखों से जो सत्य यथार्थ रूप में अनुभूत होता है, वह अनुभव कहलाता है। सच्चे सात्विक स्वप्न देखना भी इसी के अन्तर्गत आता

है।

साक्षात्कार— आत्म-चक्षुओं से परात्म, परमधाम, या युगल स्वरूप को प्रत्यक्ष (साक्षात्) देखना ही साक्षात्कार कहलाता है।

२६. प्रश्न— धनी के विरह में पल-पल आँसू बहाने के लिये क्या किया जा सकता है?

उत्तर— विरह की पीड़ा के व्यक्त रूप ही आँसू हैं। आँसू जान-बूझकर नहीं बहाये जा सकते। हम धनी के दीदार के लिये विरह में डूबकर जितनी चितवनि करेंगे, उतने ही अधिक आँसू भी निकलेंगे। विरह में खोये रहने या हृदय पर सीधी चोट करने वाले संगीत से भी आँसू टुलक जाते हैं।

२७. प्रश्न- चितवनि में हमें केवल सखी भाव से बैठना है, या कोई और भी प्रयास करना है?

उत्तर- अँगना भाव या सखी भाव को लौकिक वेश-भूषा के रूप में नहीं लेना चाहिए, बल्कि यह हृदय की माधुर्यता, समर्पण भावना, और प्रियतम को पाने की व्याकुलता की मिश्रित अभिव्यक्ति (गुणात्मक स्वरूप) है। इन तीनों गुणों को आत्मसात् करने पर ही चितवनि में सफलता प्राप्त की जा सकती है। इन गुणों से रहित होकर केवल बाह्य रूप से स्वयं को अँगना मानने से कोई लाभ नहीं है।

२८. प्रश्न- क्या विरह में भी कभी निराशा आ सकती है?

उत्तर- समर्पण के पश्चात् ही विरह-प्रेम की राह पर

चला जा सकता है। यदि विरह में डूबने पर निराशा आये, तो इसका तात्पर्य यह है कि कहीं न कहीं हमारे ईमान (श्रद्धा+विश्वास) में कमी है और हमारा विरह सच्चा नहीं है। जिसे अपना सब कुछ सौंप दिया जाता है, उससे यदि प्रत्युत्तर में प्रेम या दर्शन न भी मिले, तो भी उससे अलग होना या मानना समर्पण की पवित्र भावना को कलंकित करता है। इसलिये सच्चे विरह में कभी भी निराशा का भाव नहीं आ सकता।

२९. प्रश्न- आवेश और जोश क्या महिलाओं के अन्दर नहीं आ सकते? केवल पुरुषों के ही अन्दर इनके आने की बात क्यों की जाती है? कृपया स्पष्ट करें।

उत्तर- अक्षरातीत परब्रह्म की दृष्टि में स्त्री या पुरुष का कोई भेद नहीं है, किन्तु अध्यात्म जगत् की कुछ ऐसी कसौटियाँ हैं, जिनको पार किये बिना जोश या

आवेश का अधिकारी नहीं बना जा सकता। मात्र परमधाम की ब्रह्मात्माओं के ऊपर ही आवेश आ सकता है, जीव सृष्टि या ईश्वरी पर नहीं।

हकीकत (सत्य) को उलंघकर मारिफत (परम सत्य) में पहुँचने वाली ब्रह्मात्मा ही श्री राज जी के आवेश की उत्तराधिकारिणी बन पाती है। किन्तु यह सौभाग्य भी मात्र कुछ ही पलों के लिये होता है और वह भी अति गोपनीय रूप से।

इश्क-ईमान की राह पर चलने वाली ब्रह्मात्माओं, एवं ईश्वरी सृष्टि को हकीकत की अवस्था से पहले भी परब्रह्म की कृपा से जोश प्राप्त हो सकता है।

इस प्रकार, महिलाओं में जोश तो आ सकता है, किन्तु आवेश आने की सम्भावना नहीं के बराबर होती

है।

यद्यपि पुरुषों में हृदय की कठोरता तथा अहंकार की मानसिकता अधिक होती है, किन्तु लगातार पुरुषार्थ तथा धैर्य के गुण के कारण अपने इन दोषों को वे दूर कर लेते हैं तथा साधना के बल पर मारिफत तक पहुँच जाते हैं। इसके विपरीत, महिलाओं में हृदय की कोमलता, माधुर्यता, तथा समर्पण की उच्च भावना के होते हुए भी चंचलता, तीक्ष्णता, तथा राग-द्वेष का जो दोष होता है, उसके कारण वे कठोर साधना की कसौटी पर स्वयं को खरा सिद्ध नहीं कर पातीं और अधिक से अधिक हकीकत तक ही जाकर रुक जाती हैं। इस प्रकार, वे जोश तो प्राप्त कर सकती हैं, किन्तु मारिफत तक न पहुँचने के कारण आवेश की शोभा से वंचित रह जाती हैं।

३०. प्रश्न- समाधि, चितवनि, ध्यान, और विपश्यना में अन्तर समझाइये? केवल समाधि से ही श्री राज जी का साक्षात्कार होगा, ऐसा तारतम वाणी में किस चौपाई में कहा गया है?

उत्तर- समाधि- ध्यान में दृष्टिगोचर होने वाले ध्येय से अतिरिक्त स्वयं का अपने स्वरूप से शून्य सा हो जाना समाधि है।

चितवनि- अपने आत्मिक नेत्रों से परमधाम, युगल स्वरूप, एवं परमधाम को साक्षात् देखना चितवनि है।

ध्यान- ध्येय के अतिरिक्त अन्य विषयों से मन का हट जाना ही ध्यान है। "ध्यानं निर्विषयं मन" (सांख्य दर्शन) का यह कथन इसी भाव को व्यक्त कर रहा है।

विपश्यना- राग-द्वेष से परे होकर कूटस्थ भाव से

स्वयं को देखना ही विपश्यना है।

यद्यपि तारतम वाणी में समाधि शब्द से युक्त कोई चौपाई नहीं है, किन्तु उसका भाव कई स्थानों पर है, जैसे—

जब आतम दृष्ट जुड़ी परआतम, तब भयो आतम निवेद।

किरंतन ८/३

परआतम को आतम देखसी, तब उतर जासी सब फेर जी।

प्रकास हि. ३०/४४

अन्तस्करन आतम के, जब ए रह्यो समाए।

तब आतम परआतम के, रहे न कछु अन्तराए॥

सागर ११/४४

उपरोक्त चौपाइयों में साक्षात्कार की अवस्था का जो

वर्णन है, उसे ही शास्त्रीय भाषा में समाधि कहते हैं।

३१. प्रश्न- आप कहते हैं कि हठपूर्वक श्री राज जी नहीं मिलते, किन्तु श्री युगलदास जी ने जब हठपूर्वक अपनी आँखों पर पट्टी बाँध ली और साधना में मग्न हो गये, तो श्री राज जी को उन्हें दर्शन देकर पट्टी खोलनी पड़ी थी। तो ऐसा क्यों कहा जाता है? कृपया इसे समझाने का कष्ट करें।

उत्तर- विशुद्ध प्रेम में "मान" की एक ऐसी अवस्था होती है, जिसमें प्रेमास्पद (माशूक) यही चाहता है कि उसका प्रेमी (आशिक) स्वयं उसके पास चलकर आये, उससे प्रेम करे, और उसे मनाये। युगलदास जी ने भी इसी "मान" भावना का अनुकरण करते हुए आँखों पर पट्टी बाँध ली थी कि अब इस पट्टी को मात्र श्री जी ही खोलें।

इस प्रेममयी "मान" भावना को "हठ" की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। "हठ" उसे कहते हैं, जिसमें स्वार्थ और दुराग्रह छिपा होता है। परमहंस श्री युगलदास जी ने अपने प्रेम के अधिकार से ही वैसा किया था।

किन्तु अन्य सुन्दरसाथ को परमहंस महाराज श्री युगलदास जी की नकल नहीं करनी चाहिए, क्योंकि परमहंस जी प्रेम के जिस शिखर पर पहुँचे थे, उस पर कोई-कोई ही पहुँचता है। प्रेम के बिना, अधिकार माँगना प्रेम को कलंकित करना है। परमहंस महाराज जी ने अपना सर्वस्व प्रियतम अक्षरातीत को सौंप दिया था, तभी उन्होंने अपनी मान भरी यह साधना की और श्रीजी को स्वयं प्रकट होकर उनके मान की लाज रखनी पड़ी।

३२. प्रश्न- साधना की अवस्था में क्या महापुरुषों के दर्शन सम्भव है?

उत्तर- जो साधना सर्वशक्तिमान, सकल गुण निधान, अक्षरातीत के दर्शन करा सकती है, वह महापुरुषों के दर्शन क्यों नहीं करा सकती। योग दर्शन में कहा गया है कि "मूर्धा ज्योतिः सिद्ध दर्शनम्" अर्थात् मूर्धा में समाधिस्थ होने पर सिद्ध पुरुषों का दर्शन होता है। इसी प्रकार, चितवनि करते समय भी परब्रह्म की कृपा से अनेक ब्रह्ममुनि परमहंसों के दर्शन होना स्वाभाविक है।

३३. प्रश्न- जब एक वस्तु अथवा विचार का चिन्तन दीर्घ अवधि के लिये किया जाये, तो वह ध्यान कहलाता है। किन्तु चितवनि में तो किसी एक वस्तु पर ध्यान किया ही नहीं जाता, बल्कि सम्पूर्ण परमधाम की परिक्रमा की जाती है। इससे तो एकाग्रता नहीं आ सकती और न इससे कोई विशेष लाभ ही हो सकता है?

उत्तर- यह नश्वर जगत परिवर्तनशील एवं त्रिगुणात्मक है। यहाँ की वस्तुओं में एक-दूसरे के विरोधी गुण मिलते हैं, जबकि परमधाम इसके पूर्णतया विपरीत है। वहाँ एकत्व (वहदत) का साम्राज्य है। अनन्त परमधाम एक छोटे से कण के अन्दर भी दिखायी दे सकता है और छोटी से छोटी वस्तु में भी परमधाम की सभी वस्तुओं के गुण विद्यमान होते हैं, क्योंकि वहाँ का कण-कण ही सच्चिदानन्द परब्रह्म का स्वरूप है।

यदि हम परमधाम के किसी एक पक्ष या किसी एक वस्तु में भी चितवनि करें, तो वहदत होने से उसी आनन्द, शोभा, एवं प्रेम की प्राप्ति हो सकती है, जो सम्पूर्ण परमधाम में विद्यमान है। सम्पूर्ण परमधाम श्री राज जी के परम सत्य (मारिफत) स्वरूप हृदय से ही प्रकटित है। इसलिये लीला रूप में सम्पूर्ण परमधाम की

शोभा का वर्णन किया गया है।

जिसने प्रियतम अक्षरातीत को अपने धाम-हृदय में बसा लिया है, वह इच्छा मात्र से परमधाम के पच्चीस पक्षों की शोभा का रस अनायास ही ले सकता है। उसे एक-एक पक्ष का ध्यान लगाने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

३४. प्रश्न- परब्रह्म अन्तःकरण एवं इन्द्रियों की पहुँच से परे है। वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि तन्मात्राओं से भी परे है। ऐसी स्थिति में हम परब्रह्म के दर्शन की बात कैसे कर सकते हैं, क्योंकि यह भी तो रूप हुआ, चाहे दिव्य ही सही?

उत्तर- शब्द, स्पर्श, रूप, रस, तथा गन्ध पञ्चभूतों (आकाश, वायु, अग्नि, जल, तथा पृथ्वी) के गुण हैं।

परब्रह्म का स्वरूप त्रिगुणातीत है, इसलिये अग्नि तत्त्व के गुण रूप से उसका कोई भी सम्बन्ध नहीं है। चैतन्य परब्रह्म का स्वरूप जड़ अग्नि से सर्वथा भिन्न है, जिसे मात्र आत्म-चक्षुओं से ही देखा जा सकता है, अन्तःकरण एवं इन्द्रियाँ उस दिव्य स्वरूप को देख ही नहीं सकतीं। इसलिये तैत्तरीयोपनिषद् में स्पष्ट कह दिया गया है कि "अप्राप्य मन सह" अर्थात् वह ब्रह्म मन से प्राप्त नहीं हो सकता।

३५. प्रश्न- श्री राज जी को हम शुद्ध साकार मानते हैं। इस प्रकार वे एक आकृति में सीमित हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में हम उन्हें अनन्त किस प्रकार मान सकते हैं?

उत्तर- जिस प्रकार महासागर में क्रीड़ा करती हुई मछली को सर्वत्र जल ही जल दिखायी देता है और आकाश में उड़ते हुए पक्षी को सर्वत्र आकाश ही आकाश

दिखायी देता है, उसी प्रकार श्री राज जी ही सम्पूर्ण परमधाम के कण-कण में स्वलीला अद्वैत रूप से लीला कर रहे हैं। मात्र कहने के लिये ही वे सिंहासन पर युगल स्वरूप के रूप में विराजमान हैं, किन्तु सारा परमधाम उन्हीं के हृदय से प्रकट हुआ है। परमधाम में उनसे भिन्न किसी अन्य स्वरूप की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि परमधाम में श्री राज जी एक होते हुए भी अनन्त हैं।

३६. प्रश्न- चितवनि में किसको दर्शन होता है – जीव को अथवा आत्मा को? जीव को किस प्रकार दर्शन हो सकता है, क्योंकि वह तो अन्तःकरण पर निर्भर है और अन्तःकरण इन्द्रियों पर निर्भर है? परमात्मा इन्द्रियों का विषय नहीं है। जीव अन्तःकरण द्वारा अशरीरी होते हुए भी (स्मृति द्वारा) देखता-सुनता है, किन्तु वह किस

प्रकार देखता है? वह परमात्मा को किस प्रकार देख सकता है? यदि अन्तःकरण से नहीं देख सकता, तो क्या जीव की भी सूक्ष्म इन्द्रियाँ होती हैं? यदि होती भी हैं, तो दिव्य इन्द्रियाँ तो नहीं हो सकतीं?

क्या आत्मा को दर्शन होता है और जीव को नहीं? जीव को किस प्रकार आनन्द की अनुभूति होती है? पुनः यह कैसे सम्भव है कि जिस जीव में परमधाम की आत्मा नहीं है, उसके लिये भी अक्षरातीत का दर्शन होना सम्भव है?

उत्तर- यद्यपि चितवनि में दोनों को ही दर्शन होता है, किन्तु दर्शन के स्तर में अन्तर होता है। आत्मा सम्पूर्ण परमधाम, युगल स्वरूप, तथा परात्म के तनों को लम्बे समय तक एकटक देखती है, किन्तु जीव मात्र श्री राज जी एवं परमधाम की हल्की सी झलक ही पाकर

अनन्त आनन्द में डूब जाता है।

जीव को श्यामा जी एवं परात्म के तनों को देखने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हो पाता। "बदले आप देखावत तथा प्यारी निसबत रखे छिपाए" (सागर) के कथन से यही स्पष्ट होता है।

किन्तु जिस जीव पर आत्मा बैठी होती है, उस जीव को आत्मा के सम्बन्ध से ज्ञान-दृष्टि द्वारा श्यामा जी एवं परात्म के तनों का अनुभव अवश्य हो जाता है और उसे ऐसा लगता है कि मैंने भी देखा है।

ब्रह्म को अन्तःकरण एवं इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता। अन्तःकरण और इन्द्रियों में चेतना भी जीव से ही आती है। केनोपनिषद् १/३ में कहा गया है—

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति न मनो न विद्वो न विजानीमो।

अर्थात् उस ब्रह्म तक न तो जीव के नेत्रों की दृष्टि जाती है, न वाणी, और न ही मन। उसे यथार्थ रूप से नहीं जाना जाता।

पुनः आगे १/५-६, ७-८ में कहा गया है कि जो मन से मनन नहीं करता, किन्तु जिसके द्वारा मन मनन करता है, उसी को तू ब्रह्म जान। जो चक्षु से नहीं देखता, जिसके द्वारा नेत्र देखते हैं, उसी को तू ब्रह्म जान। इसी प्रकार, जीव भी समाधि में जब अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित होता है, तो उसे ब्रह्म को देखने के लिये अन्तःकरण या इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं पड़ती और न इनसे सम्भव ही है। वह अपनी चैतन्य दृष्टि से ब्रह्म को देखता है। संसार के व्यावहारिक जीवन को चलाने के लिये ही अन्तःकरण तथा इन्द्रियों की आवश्यकता पड़ती है।

जीव के स्थूल शरीर में जो इन्द्रियों के स्थूल गोलक दिखायी पड़ते हैं, उनसे भिन्न ही सूक्ष्म इन्द्रियों का स्वरूप है, जो अन्तःकरण से जुड़ा होता है।

अन्तःकरण तथा इन्द्रियों की उत्पत्ति महत्तत्त्व से होती है, अतः इन्हें दिव्य नहीं कहा जा सकता।

जिस जीव पर परमधाम की आत्मा का वास नहीं होता है, वह भी यदि ब्रह्मसृष्टियों की तरह अक्षरातीत के प्रति विरह, प्रेम, ईमान, और समर्पण की राह ले लेता है, तो उसे भी अक्षरातीत तथा परमधाम के दर्शन प्राप्त हो जायेगा, किन्तु श्यामा जी एवं ब्रह्मसृष्टियों का नहीं।

३७. प्रश्न- इस क्षर जगत में काल तथा दिशादि से बँधे हैं। यदि इस जगत से परे काल नहीं होता, तो परमधाम से आत्माओं का आना किस काल में हुआ?

वहाँ से इश्क-रब्द के बाद आना हुआ है, पहले नहीं। इस प्रकार परमधाम में भी काल का होना सिद्ध होता है।

यह क्षर जगत् परमधाम से ऊपर-नीचे, आगे-पीछे, दायें-बायें किस ओर है? इस प्रकार दिशा है, तो यह जगत परमधाम से किस दिशा में है? ऐसी अवस्था में परमधाम भी अनन्त कैसे हो सकता है?

उत्तर- काल और समय में अन्तर होता है। समय की गणना सूर्य-चन्द्रमा और दिन-रात्रि के अस्तित्व के आधार पर होती है, किन्तु महाप्रलय में जब सूर्य-चन्द्रमा आदि कुछ भी नहीं होते, तब भी अवधि का ज्ञान ब्रह्म को एवं मुक्त पुरुषों को उचित रूप से रहता है, जिसे काल कहते हैं।

काल शब्द के दो अर्थ होते हैं- अवधि परक और

विनाश परक।

जहाँ पर लीला का व्यवहार होता है, वहाँ पर अवधि अवश्य होगी, भले ही उसकी माप का आधार कुछ भी क्यों न हो, और वह सभी ब्रह्माण्डों की अवधियों से भिन्न क्यों न हो।

इस नश्वर जगत में जिस प्रकार सभी पदार्थों एवं प्राणियों की आयु को निगलने वाला काल (मृत्यु) है, वह परमधाम में नहीं है। यहाँ तक कि बेहद मण्डल में भी उसका कोई अस्तित्व नहीं है।

कुछ ऐसे प्रश्न होते हैं, जिनका उत्तर मानवीय बुद्धि से दे पाना किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं है, जैसे—

➤ इस क्षर जगत् के अणुओं तथा परमाणुओं की संख्या कितनी है?

- समस्त ब्रह्माण्ड में कितने प्रकार के प्राणी तथा वनस्पतियाँ हैं, और उनकी सम्पूर्ण संख्या कितनी है?
- यह सृष्टि कितनी बार बनी है और कितनी बार महाप्रलय को प्राप्त हुई है?

इसी प्रकार अनन्त शब्द की व्याख्या समझनी होगी। जीव सृष्टि के सबसे बड़े ज्ञानी के लिये यह क्षर जगत ही अनन्त है। बड़े-बड़े वैज्ञानिकों की मान्यता के अनुसार अरबों आकाशगंगाएँ (निहारिकाएँ) हैं। प्रत्येक निहारिका (गैलैक्सी) में अरबों सूर्य हैं। प्रत्येक सूर्य में हमारी पृथ्वी जैसी अनेक पृथ्वियाँ हैं, जो एक-दूसरे से करोड़ों कि.मी. की दूरी पर हैं।

अतः हमें यह मानना पड़ेगा कि इस जगत में ऐसा

कोई भी व्यक्ति नहीं है, जो इस सम्पूर्ण क्षर जगत का विस्तार (माप) बता सके।

वैज्ञानिकों द्वारा अभी भी सृष्टि का जो विस्तार ज्ञात हुआ है, वह सृष्टि के वास्तविक विस्तार का मात्र १० प्रतिशत ही है। सम्पूर्ण क्षेत्र कितना है, भला कोई कैसे बता सकता है?

किन्तु ईश्वरीय सृष्टि (शिव जी, कबीर, शुकदेव आदि) की दृष्टि में इस समस्त क्षर जगत से परे बेहद मण्डल है, जो अनन्त है।

तारतम ज्ञान के अवतरित होने के बाद, ब्रह्मसृष्टियों की दृष्टि में क्षर मण्डल तथा बेहद मण्डल भी सीमाबद्ध हो जाते हैं तथा मात्र परमधाम ही अनन्त रह जाता है। जिस प्रकार हिन्द महासागर में तैरने वाली मछली के

लिये पृथ्वी के सातों सागरों की कोई सीमा नहीं है , किन्तु हम विज्ञान द्वारा एक सीमारेखा खींच सकते हैं, उसी प्रकार तीनों सृष्टियाँ (जीव, ईश्वरी, ब्रह्मसृष्टि) अपनी-अपनी दृष्टि से अनन्त को स्वीकार करती हैं।

वास्तविकता तो यह है कि जिस प्रकार सच्चिदानन्द परब्रह्म ज्ञान, सौन्दर्य, प्रेम, आनन्द, और शक्ति की दृष्टि से अनन्त हैं, उसी प्रकार सत अंग अक्षर ब्रह्म भी शक्ति, ज्ञान की दृष्टि से अनन्त हैं, और उनका बेहद मण्डल भी अनन्त ही होगा।

अक्षर ब्रह्म का स्वाप्निक मन आदिनारायण भी अपने क्षेत्र क्षर मण्डल में प्रत्येक दृष्टि से तब तक अनन्त ही माने जायेंगे, जब तक क्षर से परे का ज्ञान न हो। आदिनारायण की नश्वर सृष्टि में भी प्राणियों तथा परमाणुओं आदि की संख्या अनन्त है और लोक –

लोकान्तर का विस्तार भी अनन्त ही है।

इस प्रकार, हम संक्षेप में कह सकते हैं कि अपने – अपने क्षेत्र में तीनों पुरुष अनन्त हैं। अक्षरातीत तो प्रत्येक दृष्टि से अनन्त हैं ही, उनका सत अंग भी बेहद मण्डल में अनन्त हैं, और क्षर पुरुष भी अपने क्षेत्र में अनन्त ही है।

जिस प्रकार अनन्त में अनन्त को जोड़ने, घटाने, या गुणा-भाग करने का परिणाम अनन्त ही होता है, उसी प्रकार एक अनन्त (क्षर) से दूसरा अनन्त (बेहद) किधर है और तीसरा अनन्त (परमधाम) किधर है का उत्तर मानवीय मस्तिष्क के लिये असम्भव है।

किन्तु तारतम ज्ञान से हमें विदित होता है कि अनन्त परमधाम हमारे हृदय में भी है। इसका कारण यह

है कि अनन्त परमधाम श्री राज जी के दिल से है और हमारा दिल भी परब्रह्म का ही दिल है। इसलिये हमारे दिल में परमधाम का विद्यमान रहना स्वाभाविक है।

जब हम तारतम ज्ञान की दृष्टि से उसका चिन्तन करते हैं और प्रेममयी ध्यान द्वारा उसे देखने का प्रयास करते हैं, तो कुछ ही देर में हमारी दृष्टि हृद-बेहृद को पार कर परमधाम में विचरण करने लगती है। इतना होने पर भी कोई मनीषी यह बताने में सक्षम नहीं है कि हृद-बेहृद का विस्तार कितना था तथा इनके किस ओर परमधाम स्थित है।

दिशा की आवश्यकता पृथ्वी आदि लोकों में ही पड़ती है और इनमें सूर्य आदि को आधार मानकर दिशायें निर्धारित की जाती हैं। किन्तु इसी क्षर जगत में आकाश में हम बहुत ऊँचाई पर अन्तरिक्ष यान द्वारा

जायें, जहाँ चारों ओर केवल नक्षत्र ही नक्षत्र दिखायी पड़ रहे हों, तो वहाँ किसको दिशा का आधार मानेंगे? ऐसी अवस्था में हमें स्वतः दिशा का कोई मानक मात्र समझने के लिये ही मानना पड़ेगा।

अनन्त महाशून्य में विचरण करने वाले किसी सिद्ध महायोगी के लिये न तो दिशा की आवश्यकता है और न कोई महत्व। वह अपनी इच्छानुसार जहाँ भी चाहे जा सकता है, और सब कुछ देख-सुन सकता है।

ठीक यही स्थिति बेहद मण्डल एवं परमधाम में है। निराकार मण्डल में तो नींद का प्रभाव होने से कोई वस्तु अज्ञेय (अज्ञात) रह सकती है, किन्तु स्वलीला अद्वैत परमधाम में तो कण-कण में परब्रह्म का ही स्वरूप क्रीड़ा कर रहा है। हम जहाँ भी जाना चाहें, जो कुछ भी देखना चाहें, पल-भर के करोड़वें हिस्से में ही हम वहाँ

उपस्थित रहते हैं, क्योंकि परमधाम में जब परब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं, तो स्थान की दूरी या समय का भेद हो ही नहीं सकता।

इसलिये वहाँ दिशा की कोई आवश्यकता नहीं होती। किन्तु हमारे लिये परमधाम की अनन्त शोभा को बोधगम्य बनाने के लिये परिक्रमा ग्रन्थ में दिशा का वर्णन वैसे ही किया गया है, जैसे एक गिलास में महासागर के जल को भरकर यह कहा जाये कि देखो! गिलास में महासागर आ गया है।

३८. प्रश्न— क्या योग का सबसे प्रामाणिक मार्ग अष्टांग योग ही है? उसकी श्रेष्ठतम् उपलब्धि क्या है? यदि असम्प्रज्ञात समाधि को ही कैवल्य कहें और उसे सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि मानें, तो यह किस प्रकार कह सकते हैं कि उसके बाद अनन्त काल तक जीव अखण्ड में

रहेगा? यदि वह आनन्द में रहेगा, तो आनन्द के संस्कार चित्त में रहेंगे तथा निर्विकार एवं निर्विचार की अवस्था समाप्त हो जायेगी?

उत्तर- अष्टांग योग से भी परे विहंगम या परम योग है, जिसमें परम गुहा में प्रविष्ट होकर ब्रह्म का साक्षात्कार किया जाता है। निजानन्द योग द्वारा बेहद से भी परे परमधाम एवं अक्षरातीत का दर्शन प्राप्त होता है। परमयोग का वर्णन वेद, उपनिषद्, एवं बीजक ग्रन्थ में, तथा निजानन्द योग का वर्णन तारतम वाणी में है।

जीव के सीमित कर्म का फल आनन्द नहीं हो सकता। यदि वह अष्टांग योग द्वारा कैवल्य मुक्ति का आनन्द प्राप्त भी करता है, तो ३६००० बार सृष्टि की उत्पत्ति एवं प्रलय में जो ३११०४००००००००० वर्ष का समय लगता है, वह उतने समय तक आनन्द

प्राप्ति करता है।

मुक्ति की अवस्था में कारण, सूक्ष्म, या स्थूल शरीर का अभाव होने से निर्विचार या निर्विकल्प समाधि की अवस्था रहेगी ही नहीं। जब उस समय चित्त ही नहीं रहेगा, तो आनन्द के संस्कार कहाँ से आयेंगे? भौतिक सुख के संस्कार तो चित्त में बन सकते हैं, किन्तु चित्त के अभाव में आनन्द के संस्कार नहीं बन सकते।

३९. प्रश्न- जीव तो अनन्त हैं। हर जीव दूसरे से पृथक् है। उनके सुख-दुख, वृत्तियाँ, स्वभाव सब अलग-अलग हैं। इस प्रकार तो अनन्तवाद ही सही हुआ, अद्वैत अथवा द्वैत नहीं?

उत्तर- जीवों की केवल संख्या के आधार पर अनन्तवाद का कोई सिद्धान्त नहीं बन सकता। ब्रह्मज्ञान

प्रेम और शक्ति की दृष्टि से अनन्त है। इस क्षर जगत का विस्तार भी अनन्त है। अनन्तवाद के लिये हमें यह भी देखना होगा कि किस क्षेत्र में हम अनन्तवाद को नियोजित करना चाहते हैं।

इस कालमाया के ब्रह्माण्ड में द्वैत (जीव+प्रकृति) की लीला है, योगमाया में अद्वैत ब्रह्म की लीला है, तथा परमधाम में स्वलीला अद्वैत अक्षरातीत की लीला है। तीनों अपने-अपने स्थान पर सत्य हैं।

४०. प्रश्न- जीव द्रष्टा है या भोक्ता? यदि द्रष्टा है, तो सुख-दुःख कौन भोग रहा है? चित्त और प्रकृति के अन्य पदार्थ तो जड़ हैं, जीव ही चेतन है। इस प्रकार वह ही भोक्ता हुआ?

आत्मा द्रष्टा है, किन्तु द्रष्टा आत्मा भी भोक्ता

(जीव) के सुख-दुःख देखकर खुश अथवा दुःखी होती है। इस प्रकार तो आत्मा भी परिणामी हो जायेगी और संस्कारों से बन्ध जायेगी? परात्म तो आत्मा के इन अनुभवों को देखने से स्वयं भी इन बन्धनों में पड़ जायेगी?

उत्तर- अविद्या से रहित शुद्ध चैतन्य जब अन्तःकरण, इन्द्रियों, एवं शरीर से युक्त होता है, तो उसे जीव कहते हैं। यद्यपि जीव की चेतना से ही अन्तःकरण एवं इन्द्रियों में भी चेतना रहती है, किन्तु सुख-दुःख अन्तःकरण के धर्म हैं, शुद्ध चेतन के नहीं। अन्तःकरण से युक्त होने के कारण संयुक्त सम्बोधन में उसे भी सुख-दुःख का भोक्ता अवश्य कहते हैं, किन्तु जीव के रूप में स्थित पुरुष चैतन्य मात्र द्रष्टा है।

इसी प्रकार परात्म परमधाम के स्वलीला अद्वैत में

है। उसकी दृष्टि ही आत्मा के रूप में जीव पर विराजमान होकर सुख-दुःख की लीला को देख रही है। आत्मा को जब तारतम वाणी का प्रकाश मिलता है, तब वह चितवनि में डूबकर अपने वास्तविक स्वरूप को देखती है और व्यवहारिक रूप में स्वयं को द्रष्टा मानती है। आत्म-जाग्रति से पहले, वह भी तारतम ज्ञान से रहित होने के कारण जीव भाव में डूबी रहती है अर्थात् शरीर और संसार तक ही अपने को सीमित किये रहती है।

आत्मा और परात्म में अविद्या आदि का प्रभाव नहीं पड़ सकता, इसलिये वे जीव की तरह माया के बन्धनों में नहीं फँस सकती। जन्म-मरण और कर्म-फल के भोग उसे अपने जाल में नहीं बाँध सकते। किन्तु जीव के ऊपर विराजमान होने के कारण द्रष्टा होते हुए भी ऐसा लगता है कि जैसे वह भी माया के बन्धन में बन्ध गयी है।

इसी तथ्य को बताने के लिये कलश हिन्दुस्तानी में कहा गया है—

आत्म तो अंधेर में, सो बुध बिना बल ना होय।

बिच्छू का डंक जिसको लगता है, दर्द उसी को होता है, दूसरे को नहीं। दूसरा केवल सहानुभूति दर्शा सकता है। इसी प्रकार परात्म में किसी भी प्रकार से माया का बन्धन अपना प्रभाव नहीं डाल सकता।

४१. प्रश्न— चेतन श्रेष्ठ है अथवा जड़? यदि यह कहें कि निर्विकल्प समाधि के बाद जब संस्कारों का नष्ट होना ही मोक्ष है, तो उसके बाद जीव में कोई क्रिया और अनुभव (अनुभूति) नहीं होना चाहिये, नहीं तो उसके संस्कार पुनर्जन्म के लिये विवश करेंगे। यदि सुख-दुःख, आनन्द-विषाद नहीं रहा, तो वह जड़ समान ही हो

गया। क्या संसार की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि यही है, तो जड़ पदार्थ हमसे श्रेष्ठ हैं?

उत्तर- चेतन भोक्ता है और जड़ (प्रकृति) भोग्य। इस प्रकार, चैतन्य जीव ही श्रेष्ठ माना जायेगा। जड़ में कोई स्वतः क्रिया भी नहीं होती। वह चैतन्य ब्रह्म के संकल्प पर आश्रित है।

जिस प्रकार गर्म बालू में भूने हुए चने में अंकुरण नहीं होता, उसी प्रकार निर्बीज समाधि द्वारा अपने सभी संस्कारों को नष्ट कर देने के बाद मुक्ति सुख भोगने तक बीच में कोई भी नया संस्कार नहीं पैदा होता। यह विशेष बात है कि संस्कारों का निर्माण प्रकृति के बन्धन में रहने पर ही होता है, मुक्ति के आनन्द में नहीं। मुक्ति में जीव ब्रह्म की साधर्म्यता प्राप्त कर सर्वदा आनन्द में मग्न रहता है।

४२. प्रश्न- यदि किसी जीव को पूर्वजन्म में कोई विशेष आध्यात्मिक उपलब्धि नहीं हुई, तो उसे अध्यात्म की श्रेष्ठतम उपलब्धि पाने में कितना समय लगेगा, अगर वह पूर्ण श्रद्धा से प्रयास करे? कैवल्य अवस्था में कितना समय लगेगा तथा युगल स्वरूप का दर्शन पाने में कितना समय लग सकता है?

उत्तर- किसी की आध्यात्मिक सफलता में निम्नलिखित कारकों की विशेष भूमिका रहती है-

- ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु का उच्च निर्देशन।
- उच्च संस्कार।
- ज्ञान, विवेक, वैराग्य, शील आदि गुणों का समावेश।
- दृढ़ निष्ठा के साथ प्रारम्भ की गयी साधना।

यदि किसी ने पूर्वजन्म में सम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति प्राप्त कर ली है, तो उसे असम्प्रज्ञात द्वारा कैवल्य तक पहुँचने में उचित परिस्थितियों में ६ माह तथा मध्यम, विपरीत, एवं उग्र विरोधी परिस्थितियों में क्रमशः ३, ६, या १२ वर्ष तक का समय लग सकता है।

तारतम ज्ञान के प्रकाश में युगल स्वरूप का साक्षात्कार बहुत ही सरल है। जब तक सम्पूर्ण वासनाओं के संस्कार नष्ट नहीं होते, तब तक कैवल्य की प्राप्ति सम्भव नहीं है। ऐसा करने में कई जन्म बीत जाते हैं। गीता ने भी इस बात की पुष्टि की है—

अनेक जन्म संसिद्धिः ततो याति परां गतिम्।

अर्थात् अनेक जन्मों की साधना के पश्चात् ही परमगति की प्राप्ति होती है। किन्तु परा प्रेम लक्षण भक्ति

द्वारा जब विरह-प्रेम का रस अपने प्रवाह में बह रहा होता है, तो हृदय में वासना का बीज रहने पर भी प्रेम के कारण युगल स्वरूप का साक्षात्कार सरलतापूर्वक हो जाता है। इसकी अवधि ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु के निर्देशन , अपने माधुर्य एवं कोमल स्वभाव , विरह तथा प्रेम की गहनता से लगभग ६ माह से ३ वर्ष की है। मध्यम स्तर की साधना करने वाला लगभग २-८ वर्ष, तथा तृतीय स्तर की साधना करने वाला ८-१२ वर्ष तक का समय लगा सकता है।

४३. प्रश्न- योग के मार्ग में दिव्य अनुभूतियाँ होती हैं, जो सर्वोच्च उपलब्धि नहीं है , बल्कि भ्रामक हैं। क्या यही समस्या चितवनि में भी आती है? यह किस प्रकार निर्णय करें कि ये अनुभूतियाँ भ्रामक हैं?

उत्तर- चितवनि का सर्वोपरि लक्ष्य है – आत्म-जाग्रति। युगल स्वरूप की नख से शिख तक की शोभा, अपनी परात्म एवं २५ पक्षों की शोभा, तथा किसी ब्रह्ममुनि परमहंस के दर्शन के अतिरिक्त और किसी भी अनुभव को महत्व नहीं देना चाहिए।

४४. प्रश्न- क्या बहिरंग योग के साधन- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, तथा प्रत्याहार चितवनि में भी उपयोगी हैं?

उत्तर- किसी भी साधना पद्धति में ये नींव के समान हैं। चितवनि में भी इनकी इतनी ही उपयोगिता है, जितनी अष्टांग योग में।

४५. प्रश्न- जीव और अन्तःकरण कब तक साथ रहते हैं? क्या महाप्रलय में भी जीव अन्तःकरण के साथ

जुड़ा रहता है?

उत्तर- जन्म-मरण का चक्र जब तक चलता है, तब तक अन्तःकरण जीव के साथ जुड़ा ही रहता है, क्योंकि अन्तःकरण कारण शरीर के अन्तर्गत आता है। सूक्ष्म शरीर १९ तत्त्वों वाला होता है। इसमें कारण शरीर भी संयुक्त होता है। महाप्रलय में अन्तःकरण का जीव के साथ रहने का प्रश्न ही नहीं है।

४६. प्रश्न- चितवनि के कितने अंग हैं, अर्थात् कितनी मन्जिलों से होकर गुजरना पड़ता है?

उत्तर- चितवनि की मुख्यतः ५ सीढ़ियाँ (मन्जिल, स्तर) हैं-

१. इस अवस्था में तारतम वाणी का आधार लेकर युगल स्वरूप एवं पच्चीस पक्षों की शोभा पर अपने मन को

केन्द्रित करने का प्रयास किया जाता है। कभी शोभा आती है और कभी अदृश्य हो जाती है। मन में नये-नये विचार भी आते रहते हैं।

२. इस मन्जिल में परात्म की भावना से आत्मा के श्रृंगार की प्रवृत्ति बढ़ जाती है तथा विरह का रस बढ़ने से संसार नीरस लगने लगता है। मायावी मनोविकार दूर भागने लगते हैं।

३. इस स्तर पर पहुँचते ही प्रेम का रस फूट पड़ता है। उठते-बैठते, सोते-जागते केवल मधुर प्रेम की ही मानसिकता बन जाती है। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे युगल स्वरूप पल-पल मेरे पास हैं।

४. इस स्थिति में युगल स्वरूप का प्रत्यक्ष साक्षात्कार होता है। अपनी परात्म भी दिखायी पड़ती है।

धनी के अंग-अंग की शोभा बस जाने से सम्पूर्ण परमधाम भी हृदय में झलकने लगता है।

५. इस अवस्था में आत्मा श्री राज जी की शोभा में इतनी खो जाती है कि वह स्वयं को भुला देती है। वह अपने प्राणप्रियतम के दिल में इतना डूब जाती है कि उसे श्यामा जी एवं २५ पक्षों का भी आभास नहीं होता। उसे केवल यही प्रतीत होता है कि प्रियतम अक्षरातीत के अतिरिक्त अन्य कोई है ही नहीं।

४७. प्रश्न- इस संसार में स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी, तथा स्थावर-जन्य प्राणी निवास करते हैं। परमधाम में स्त्री-पुरुष का भेद किस प्रकार से है?

उत्तर- अध्यात्म के चरम स्तर पर स्त्री-पुरुष का भेद रह ही नहीं सकता। परमधाम में एक परब्रह्म के

अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं। लीला रूप में श्यामा जी तथा ब्रह्मात्माओं आदि के तन स्त्रीलिंग में अवश्य दिखायी देते हैं, किन्तु उनमें भी श्री राज जी का ही स्वरूप क्रीड़ा कर रहा होता है। स्त्री माधुर्यता एवं समर्पण की प्रतिमूर्ति मानी जाती है। इस भाव को दर्शाने के लिये ही श्यामा जी तथा ब्रह्मात्माओं को नारी रूप में दर्शाया गया है, अन्यथा स्वलीला अद्वैत में किसी भी प्रकार के भेद की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

वहाँ नर और मादा के रूप में पशु-पक्षी आदि सभी हैं, किन्तु वे भी परब्रह्म के अखण्ड मधुर प्रेम में खोये रहते हैं। इस मायावी जगत में पुरुषों में जिस प्रकार की अहम् एवं स्वामित्व की प्रवृत्ति होती है, वैसी भावना परमधाम में स्वप्न में भी नहीं आ सकती। भला, वहदत (एकदिली) में किसी भी प्रकार का भेद कैसे आ सकता

है।

४८. प्रश्न- महापुरुषों का कहना है कि सच्चा ज्ञान भीतर ही है, वह पुस्तकों से नहीं बल्कि अनुभव से प्राप्त होता है। बुद्धि के निर्मल होने पर वह सत्य-असत्य का निर्णय करने में सक्षम हो जाती है और सत्य ज्ञान प्रवाहित होता है। क्या चितवनि में भी ज्ञान की प्राप्ति होती है, जिसके बाद यह कह सकें कि अब कुछ भी जानना शेष नहीं रहा?

उत्तर- धर्मग्रन्थों में मनीषियों के वे विचार संग्रहित होते हैं, जो उन्होंने साधना से पाया होता है। यदि हमारी साधना से होने वाले अनुभव की महत्ता है, तो पहले के योगियों तथा सिद्ध पुरुषों ने अपने जिन अनुभवों को ग्रन्थों में लिख रखा है, उसे कैसे नकारा जा सकता है? साधना से पहले धर्मग्रन्थों में निहित ज्ञान को आधार तो

बनाना ही पड़ेगा, अन्यथा अनुभव के नाम पर परब्रह्म के सम्बन्ध में तरह-तरह की भ्रान्तियाँ फैल जायेंगी।

इतना अवश्य है कि साधना का परम् पवित्र मार्ग छोड़कर दिन-रात ग्रन्थों में उलझे रहने पर भी वास्तविक ज्ञानी नहीं बना जा सकता। ज्ञान का प्राण प्रेम है और प्रेम का प्राण ज्ञान है। वस्तुतः ज्ञान और प्रेम दोनों ही एक-दूसरे के पूरक हैं। अक्षरातीत परब्रह्म को चितवनि द्वारा अपने धाम-हृदय में बसा लेने पर ज्ञान की निर्मल सरिता स्वतः ही प्रवाहित होने लगती है। उस समय यह अवश्य कहा जा सकता है कि जो कुछ भी पाना था, पा लिया। अब ग्रन्थों के ज्ञान पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं है। इस सम्बन्ध में तारतम वाणी के सागर ग्रन्थ का कथन है—

श्री महामति कहे ऐ मोमिनों, ए ऐसी बका कुंजी इलम।

ए मेहर देखो मेहबूब की, तुमको आप पढ़ाए खसम॥

किन्तु इसके साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि चितवनि का प्रारम्भ भी तारतम वाणी का आधार लेकर ही होता है।

४९. प्रश्न- क्या चितवनि से दिव्य शक्तियाँ (विभूतियाँ) भी प्राप्त होती हैं?

उत्तर- विभूतियों को प्राप्त करने के लिये परब्रह्म के स्थान पर अन्य प्रकार की धारणायें करनी पड़ती हैं, जिसका विशद् वर्णन इसी ग्रन्थ की तीसरी तरंग में किया गया है।

चितवनि में एकमात्र अक्षरातीत को ही लक्ष्य में रखकर ध्यान किया जाता है, इसलिये विभूतियों के प्राप्त

होने का प्रश्न ही नहीं है।

किन्तु विशेष परिस्थितियों में आवश्यकता पड़ने पर आत्मिक बल से या राज जी के जोश द्वारा चमत्कारिक लीलायें स्वतः ही हो जाया करती हैं।

५०. प्रश्न- ब्रह्मसृष्टियों की असामयिक / अप्राकृतिक मृत्यु संशय उत्पन्न करती है। बीतक में हम पढ़ते हैं कि मिर्गी के कारण कई सुन्दरसाथ ने संसार त्याग दिया, जिनमें ब्रह्मसृष्टियाँ भी थीं।

उत्तर- जीव अपने संचित क्रियमाण, तथा प्रारब्ध कर्मों के फलस्वरूप सुख-दुःख का भोग करता है। आत्मा उसके सुख-दुःख की द्रष्टा मात्र है। योगाग्नि से संचित और क्रियमाण कर्मों को नष्ट कर दिया जाता है, किन्तु प्रारब्ध को अल्प मात्रा में भोगना ही पड़ता है।

प्रियतम अक्षरातीत के चरणों में जाने के बाद यदि प्रेमपूर्वक चितवनि की जाये, तो प्रारब्ध के कष्ट नाम मात्र के रह जाते हैं।

रामनगर में जिन-जिन सुन्दरसाथ की मिर्गी से मृत्यु हुई है, उनके बारे में यही सम्भावना की जा सकती है कि उन्होंने चितवनि की कठोर राह अपनाकर अपने प्रारब्ध के दुःखों को कम नहीं किया, अन्यथा क्या कारण है कि शाहजहाँपुर बोड़िये में नागजी भाई को प्रत्यक्ष मौत भी कुछ नहीं कर पायी।

५१. प्रश्न- चितवनि के मार्ग में क्या-क्या बाधाएँ आती हैं?

उत्तर- चितवनि में बाधा डालने वाले निम्नलिखित कारक हैं-

- **अहं-** चितवनि के मार्ग का पहला चरण ही श्रद्धा और समर्पण से शुरू होता है। अपनी कुछ उपलब्धियों का अहं आते ही श्रद्धा, समर्पण, तथा विरह-प्रेम का महल ढहने लगता है। इसलिये यथासम्भव अहं की दुर्गन्धि से स्वयं को बचाना चाहिए।
- **प्रतिष्ठा-** अनावश्यक प्रतिष्ठा की चाह आत्मा और प्रियतम के बीच में दीवार का काम करती है और अहंकार की विष-बेल को बढ़ाती है।
- **कामना-** लौकिक सुखों की निरर्थक कामना चितवनि के पवित्र प्रेम को कलंकित कर देती है।
- **आलस्य और प्रमाद-** तमोगुण से उत्पन्न होने वाले आलस्य और प्रमाद रूपी शत्रु कदम-कदम पर

चितवनि में अवरोध खड़ा करते हैं।

- **आत्मविश्वास की कमी-** हीन भावना का शिकार होने वाला व्यक्ति कभी साधना के मार्ग पर नहीं चल सकता। हमें यह हमेशा ध्यान रखना चाहिये कि हमारी आत्मा परब्रह्म रूपी सागर की लहर है।
- **निष्ठा का बँटवारा-** हमें प्रेममयी निष्ठा में परब्रह्म अक्षरातीत को पहली प्राथमिकता देनी होगी। यदि हम श्री राज जी से अधिक किसी और को चाहते हैं, तो चितवनि का लक्ष्य पूरा नहीं हो सकेगा।

५२. प्रश्न- चितवनि से क्या हम सत्य-असत्य और उचित-अनुचित का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं? क्या अभ्यास मात्र से (विशेष आध्यात्मिक उपलब्धि भले ही न हो तो भी) हम किंकर्तव्यविमूढ़ता से छुटकारा पा

सकते हैं?

उत्तर- अवश्य! एकमात्र चितवनि ही वह मार्ग है , जिस पर चलने से हम अपनी अन्तरात्मा की आवाज को यथार्थ रूप से सुन सकते हैं और सत्य -असत्य तथा उचित-अनुचित का बोध प्राप्त कर सकते हैं, जिसे प्राप्त करने में बड़े-बड़े विद्वान भी कभी-कभी असफल हो जाते हैं। चितवनि करने वाले को हमेशा ही इस बात का भान रहता है कि परब्रह्म उसके धाम-हृदय में विराजमान हैं और उसकी प्राणनली से भी अधिक निकट हैं। ऐसी स्थिति में उसका आत्मिक बल इतना अधिक बढ़ा होता है कि नकारात्मक विचार कभी उसके मन में आते ही नहीं। वह अपने दृढ़ संकल्प से असम्भव को भी सम्भव में परिवर्तित करने का सामर्थ्य रखता है। ऐसी अवस्था में भला किंकर्तव्यविमूढ़ता उसके पास कहाँ से आयेगी।

५३. प्रश्न- चितवनि से क्या लाभ हैं? (विशेष उपलब्धि भले ही न हो) क्या सांसारिक जीवन में भी वह किसी प्रकार सहायक है?

उत्तर- अध्यात्म से रहित मानव जीवन उस पशु के समान है, जो भोजन, निद्रा, और प्रजनन के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं जानता। चितवनि अध्यात्म रूपी वृक्ष का वह सुगन्धित फूल है, जिससे अखण्ड मुक्ति रूप फल प्रकट होता है। सांसारिक जीवन भी चितवनि के आनन्द से रहित होने पर सूना और निःसार ही है।

५४. प्रश्न- क्या अभ्यास के दौरान (जब साध्य की प्राप्ति न हुई हो) भी कुछ आनन्द का अनुभव होता है?

उत्तर- संसार का सबसे बड़ा सुख भी उस तृष्णा के क्षय से होने वाले सुख के सोलहवें भाग की बराबरी

करने में असमर्थ है। इस प्रकार यह बात कही जा सकती है कि प्रियतम अक्षरातीत की चितवनि में इतना आनन्द है कि उसके सामने संसार के सभी सुख मिलकर भी कहीं नहीं ठहरते। यही कारण है कि ध्यान का आनन्द पाने के लिये ही राजकुमार सिद्धार्थ, महावीर, भर्तृहरि आदि ने अपने राज-पाट को छोड़ दिया और वनों में ध्यानमग्न रहे। यदि मान लिया जाये कि चितवनि में श्री राज जी का दर्शन नहीं होता है, तब भी उनसे अपनी सामीप्यता और प्रेम के अधिकार का आभास तो होता ही रहता है।

५५. प्रश्न- यदि ऐसा कहें कि आत्मा परात्म के जिस भी अंग का साक्षात्कार कर लेती है, वह जाग्रत हो जाता है, तो इससे संशय उत्पन्न होता है। इसी प्रकार यदि श्री राज जी को शुद्ध साकार मानते हैं, तो उन्हें

अनन्त नहीं कह सकते। हाथ-पैर भी तो कर्मेन्द्रियाँ ही हैं।

उत्तर- आत्मा अपने मूल तन को भूलकर जीव के स्वाप्निक तन को ही अपना तन माने बैठी है, यही तो नींद (अज्ञानता) है। जब वह अपनी परात्म को देखती है, तो उसे अपने निज स्वरूप का बोध होता है जिसे तारतम वाणी की भाषा में आत्म-साक्षात्कार कहते हैं। परात्म के जिस-जिस अंग को वह देखती है, आत्मा का वह-वह अंग जाग्रत होता जाता है, ऐसा कहना आत्म-जाग्रति के क्रमिक स्तर को दर्शाना है।

कोई भी त्रिगुणात्मक पदार्थ शुद्ध नहीं कहा जा सकता, इसलिये परब्रह्म को शुद्ध साकार कहने का तात्पर्य है त्रिगुणातीत (नूरमयी, चेतन, प्रकाशमयी) स्वरूप। परमधाम में परब्रह्म का जो अनन्त तेजोमयी

प्रकाश लीला रूप असंख्य पदार्थों के रूप में सर्वत्र क्रीड़ा कर रहा है, उसने ही तो श्री राज जी के नूरमयी हाथ-पैरों की भी आकृति धारण कर रखी है। जब अनन्त परमधाम में श्री राज जी से भिन्न अन्य कुछ भी नहीं है, तो उनके किसी अंग विशेष से या आकृति से उनकी अनन्तता पर किसी भी प्रकार का प्रश्नचिह्न खड़ा नहीं हो सकता। श्री राज जी की किशोराकृति लीला रूप में है। अन्य सभी स्वरूप (श्यामा जी, ब्रह्मसृष्टियाँ, अक्षर ब्रह्म आदि) भी उन्हीं के अभिन्न स्वरूप हैं।

५६. प्रश्न- तपलोक में सूक्ष्म शरीरधारी श्रेष्ठ जीव रहते हैं, तो तारतम रूपी ब्रह्मज्ञान का अवसर मृत्युलोक वासियों को ही क्यों प्राप्त हुआ, जहाँ निम्न कोटि के जीव पापों का भोग कर रहे हैं?

उत्तर- पृथ्वी लोक ही वह कर्मभूमि है, जहाँ मोक्ष

की प्राप्ति होती है। तप लोक आदि में जहाँ सूक्ष्म शरीरधारी ऋषि-मुनि रहते हैं, वे भी पहले इसी पृथ्वी पर जन्म लिये हैं और अपने तप द्वारा ऊपर के लोकों में पहुँचे हैं। यही कारण है कि स्वर्ग के देवता भी भारतवर्ष में जन्म धारण करने के इच्छुक होते हैं। इस सम्बन्ध में विष्णु पुराण का कथन है—

गायन्ति देवा किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारत भूमि भागे।

स्वर्गापिवर्गस्पदमार्ग भूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥

ब्रह्मसृष्टियों को माया देखने की जो इच्छा थी, वह पृथ्वी लोक में ही पूरी हो सकती थी, अन्य लोकों में नहीं। अन्य लोक तो शुभ-अशुभ कर्मों के भोग के लिये हैं। इसलिये ब्रह्मसृष्टियों तथा अक्षरातीत के आवेश के इस पृथ्वी लोक में आने के कारण तारतम वाणी रूपी

ब्रह्मज्ञान भी यहीं पर अवतरित हुआ।

५७. प्रश्न- क्या चितवनि द्वारा आध्यात्मिक उपलब्धि के पश्चात् लौकिक दुःखों से कष्ट नहीं होता?

उत्तर- सुख और दुःख अन्तःकरण के विषय हैं। जब आत्मा अपने प्रियतम अक्षरातीत के अनन्त आनन्द में मग्न हो जाती है, तो उसे इस नश्वर संसार और शरीर से मोह नहीं रह जाता। वह मात्र द्रष्टा होकर इस जगत के खेल को देख रही होती है। यदि उसे अर्थाभाव, रोग, तथा वृद्धावस्था आदि के कष्ट आते हैं, तो वह बिना विचलित हुए बहुत ही सहजता के साथ कष्टों को इस प्रकार सहन कर लेती है जैसे कुछ हुआ ही न हो। ऐसा इसलिये होता है कि उसे परब्रह्म के प्रेम के अतिरिक्त और कुछ दिखायी ही नहीं देता। जबकि सांसारिक लोग शरीर और संसार के मोहजाल में फँसे होने से अपने

दुःखों का रोना रोते रहते हैं।

५८. प्रश्न- क्या इस महाप्रलय के बाद जीवों को अखण्ड मुक्ति मिलेगी, अर्थात् किसी काल उन्हें पुनः जन्म नहीं लेना होगा?

उत्तर- हाँ! अक्षरातीत परब्रह्म द्वारा जीवों को अखण्ड मुक्ति दिये जाने से उन्हें कभी भी जन्म नहीं लेना पड़ेगा। यह मुक्ति कैवल्य से भिन्न है।

५९. प्रश्न- क्या चितवनि द्वारा मनुष्य (भले ही श्रेष्ठतम उपलब्धि न हो और सिर्फ प्रारम्भिक प्रयास / अभ्यास हो) दुःख, भय, इच्छा, द्वेष, अहंकार, ईर्ष्या आदि क्लेशों से मुक्त हो सकता है?

उत्तर- गन्दे वस्त्र में हम जितना ही साबुन लगायेंगे, उतनी ही मैल धुलेगी। हम अपने दिल में प्रियतम

अक्षरातीत की छवि को बसाने के लिये जितनी साधना करेंगे, उतना ही हमारी विकारों से निवृत्ति होती जायेगी। जिस प्रकार अन्धेरे कमरे में दीपक जलाते ही अन्धेरा भाग जाता है, उसी प्रकार हृदय में प्रियतम परब्रह्म की नूरी शोभा के विराजमान होने पर भला काम, क्रोध, मद, लोभ, ईर्ष्या आदि मायावी विकार कैसे रह सकते हैं।

६०. प्रश्न- अष्टांग योग की तुलना में क्या चितवनि में भी अभ्यास के ढाई घण्टे, ४ घण्टे, ६ घण्टे आदि भेद हैं? उससे उपलब्धि में क्या अन्तर पड़ता है? क्या लम्बी अवधि तक एकसाथ बैठने का अभ्यास करना चाहिये? क्या ऐसा करने से कुछ विशेष लाभ होता है?

उत्तर- तन-मन की चंचलता वाली ६ घण्टे की चितवनि की अपेक्षा दो घण्टे की वह चितवनि अधिक लाभदायक है, जिसमें तन-मन पूर्ण रूप से स्थिर रहें।

यद्यपि अधिक समय तक ध्यान या चितवनि करना अच्छा है, किन्तु उससे भी अच्छा है, ध्यान (चितवनि) की गुणवत्ता को बनाये रखना अर्थात् तन-मन को लक्ष्य के प्रति पूर्ण रूप से स्थिर किये रहना।

६१. प्रश्न- क्या मारिफत की अवस्था प्राप्त की जा सकती है? क्या सामान्य जीव (जिसमें परमधाम का अँकुर न हो) भी मारिफत की अवस्था को प्राप्त कर सकता है?

उत्तर- गहन प्रेम द्वारा मारिफत की अवस्था अवश्य प्राप्त की जा सकती है और इसे महाराज श्री रामरतन दास जी जैसे परमहंसों ने चरितार्थ करके भी दिखाया है। अँकुर से रहित सामान्य जीवों के लिये मारिफत में पहुँच पाना सम्भव नहीं है, क्योंकि इसके लिये जिस प्रेम की आवश्यकता होती है, वह ब्रह्मसृष्टियों

के अतिरिक्त अन्य कहीं पर नहीं मिल सकता। जीवसृष्टि बहुत प्रयास करके केवल श्री राज जी और परमधाम की हल्की सी झलक ही पा सकती है।

यद्यपि इस संसार में सूरदास, मीराबाई, रसखान, और बाबा फरीद जैसे प्रेमी भक्त हुए हैं, किन्तु परमधाम का अँकुर न होने के कारण ये भी मारिफत की अवस्था में नहीं पहुँच सके।

इस नश्वर जगत में आदिनारायण, निराकार, या अक्षर के चतुष्पाद की भक्ति में लगे रहने वाले ही मारिफत की अवस्था में पहुँचने का दावा करते हैं, किन्तु उनकी उपलब्धि परमधाम की मारिफत में नहीं, बल्कि आदिनारायण या अक्षर (चतुष्पाद) को आराध्य मानकर हुई होती है।

६२. प्रश्न- यदि यह जानने के लिये कि जिसे (संसार को) हम सत्य समझते हैं वह असत्य है और जिसे हम असत्य समझते हैं वह सत्य है, ध्यान ही एकमात्र मार्ग है, तो फिर पुस्तकें क्यों पढ़ें?

उत्तर- साधना का भव्य महल ज्ञान की नींव पर ही खड़ा होता है। यदि संसार से शिक्षा हटा दी जाये, तो मानव समाज केवल असभ्य लोगों का एक समूह भर नजर आयेगा और ऐसा मानव ब्रह्म-चिन्तन से दूर होकर पशुवत् जीवन बिताने के लिये मजबूर हो जायेगा।

ज्ञान सत्य की राह हो दिखाता है और प्रेममयी ध्यान उस सत्य (परमात्मा) को प्राप्त कराता है। इसलिये सत्य को जानने के लिये दोनों की समान उपयोगिता है। इनमें से किसी को भी कम या अधिक करके नहीं आँका जा सकता।

६३. प्रश्न- यदि महान तपस्वियों तथा योगियों को ध्यान में सत्य ज्ञान प्राप्त हुआ , तो उन्हें परमधाम के अस्तित्व का ज्ञान क्यों नहीं हुआ ? यदि उन्हें जड़ प्रकृति के स्थूल तथा सूक्ष्म स्वरूप का ही दर्शन होता है, तो वह भी असत्य है, क्योंकि वह परिणामी होने से अनित्य ही हुआ?

उत्तर- इस जगत् की उत्पत्ति का मूल बेहद मण्डल (अव्याकृत एवं सबलिक) में है। इसलिये कैवल्य की अवस्था को प्राप्त होने वाले योगियों एवं तपस्वियों को बेहद मण्डल का आभास तो रहा है, किन्तु परमधाम का उन्हें बोध नहीं हो सका। इसका मूल कारण यह है कि यह सम्पूर्ण सृष्टि अक्षर ब्रह्म के मन अव्याकृत के स्वापनिक स्वरूप आदिनारायण से उत्पन्न हुई है। इसलिये सृष्टि के मनीषियों के मूल आराध्य अक्षर ब्रह्म ही

रहे हैं।

"अक्षरात् परतः परः" का कथन मात्र वाग्विलास के लिये ही था, व्यवहार के लिये नहीं, क्योंकि अक्षरातीत को पाने के लिये संसार में कोई भी उपासना पद्धति थी ही नहीं। संसार की अब तक की प्रचलित सभी ध्यान पद्धतियाँ निराकार-बेहद से आगे नहीं जाती हैं। तारतम्य ज्ञान के प्रकाश में मात्र निजानन्द योग ही परमधाम ले जा सकता है।

६४. प्रश्न- ध्यान की किसी भी विधि को छोड़कर आध्यात्मिक उन्नति के अन्य मार्ग कौन से हैं? क्या इनमें से किसी के भी द्वारा परमधाम का दर्शन हो सकता है?

उत्तर- परमधाम चेतन है और उसे मात्र आत्म-चक्षुओं से ही देखा जा सकता है। शरीर, मन, तथा

इन्द्रियों से होने वाली उपासना कभी भी न तो आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार करा सकती है, न परमधाम का, और न प्रियतम अक्षरातीत का। एकमात्र ध्यान ही वह पद्धति है, जिससे शरीर, इन्द्रियाँ, तथा अन्तःकरण (मन, चित्त, बुद्धि, एवं अहंकार) निश्चेष्ट से हो जाते हैं, और चेतना उस परम सत्य का साक्षात्कार करती है जो नित्य है, अनादि है, और सर्वशक्तिमान है।

इसके विपरीत आजकल मन्दिरों, मस्जिदों, गिरजाघरों, गुरुद्वारों आदि में जो भी पूजा-पाठ आदि कर्मकाण्ड तथा प्रार्थना करायी जाती है, वह शरीर, मन, तथा इन्द्रियों से होने वाली उपासना है, जो परम सत्य तक नहीं पहुँचा सकती।

वैदिक योग पद्धति, जिसका अनुसरण अक्षर ब्रह्म की आत्माओं (शिव, सनकादि, कबीर जी आदि) ने

किया है, उसके द्वारा बेहद मण्डल की प्राप्ति की जा सकती है, किन्तु परमधाम का साक्षात्कार करने के लिये तारतम वाणी के प्रकाश में किये जाने वाले निजानन्द योग (चितवनि) के अतिरिक्त अन्य कोई भी मार्ग नहीं है।

६५. प्रश्न- चितवनि में प्रयास की आवश्यकता है।

इस प्रकार परमात्मा कर्म से प्राप्त होता है और अवसरवादियों का है, क्योंकि इस कलियुग में जिन भाग्यशाली मनुष्यों ने जन्म लिया है, वे ही परमधाम और अक्षरातीत के साक्षात्कार का लाभ ले सकते हैं?

उत्तर- कर्म-फल के अटल सिद्धान्त वाले जगत् में सौभाग्य का निर्माण अनायास ही नहीं हुआ करता, बल्कि हमें निःसंकोच होकर यह स्वीकार करना पड़ेगा कि पुरुषार्थ ही भाग्य का निर्माता है।

जिन लोगों को तारतम ज्ञान द्वारा परमधाम एवं अक्षरातीत के साक्षात्कार का मार्ग मिला है, वह ऐसे ही अचानक नहीं मिला है, बल्कि अनेक जन्मों की साधना के फलस्वरूप उनको यह सौभाग्य मिला कि उनके तनों में ब्रह्मसृष्टियाँ प्रवेश कर सकें। श्रीमद्भागवत् में वर्णित मरु और देवापि को कठोर साधना के फलस्वरूप ही वह सौभाग्य प्राप्त हुआ कि उनके तनों (श्री मिहिरराज एवं श्री देवचन्द्र जी) में परमधाम की आत्मायें प्रविष्ट करें और परब्रह्म की आवेश लीला उनके तन से सम्पादित हो सके। इसलिये तारतम वाणी का प्रकाश पाकर चितवनि करने वालों को अवसरवादी कदापि नहीं कहा जा सकता।

॥ इसके साथ ही यह छठी तरंग सम्पूर्ण हुई ॥

